क्रान्तियुग की चिनगारियाँ

देश के सर्वमान्य नेता महात्मा गांधी, डा० भगवानदास, पं० जवाहरलाल नेहरू, सुभासचन्द्र बोस, श्री श्रीप्रकाश, शचीन्द्रनाथ सान्याल, सम्पूर्णानन्द, प्रो० एन० जी० रंगा आदि का सामयिक समस्याओं पर प्रकाश।

संकलनकर्त्ता

सूर्यबली सिंह

प्रकाशक

हिन्दी-पुस्तकालय

सोरा कुआँ, बनारस

प्रथम बार सन् १९३८ मूल्य १) सजिल्द १॥)

प्रकाशक

शंकर सिंह

अध्यक्ष, हिन्दी पुस्तकालय

सोराकुवाँ, बनारस ।

मुद्रक

ना० रा० सोमण

श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस,

बनारस सिटी ।

दो शब्द

समय समय पर देश के विद्वानों एवं कर्णधारों के बड़े ही महत्त्वपूर्ण लेख और व्याख्यान समाचार-पत्रों में निकला करते हैं। मेरी आदत है कि मैं ऐसे लेखों और व्याख्यानों को चुन कर बड़े यत्न से रख छोड़ता हूँ। उसी आदत का यह फल पाठकों के सामने है। इसमें जितने लेख और व्याख्यान दिये गये हैं, सबके-सब बड़े प्रभावशाली, समयानुकूल और देश में क्रान्ति पैदा करने वाले हैं। अधिकाधिक प्रचार करने के लिए इनका संग्रह पुस्तक के रूप में निकालने का मैंने दुःसाहस किया है। देश की वर्तमान परिस्थिति में यह आवश्यक है कि नेताओं और विद्वानों के महत्त्व-पूर्ण तथा हितकर विचार देश के कोने कोने में पहुँचाये जायँ। तभी हमारी क्रान्ति सफल हो सकती है। इसलिए ऐसी चीजों का संग्रह करना देश के लिए तथा स्वतंत्रता के आन्दोलन के लिए लाभदायक सिद्ध होगा। आशा है कि इससे प्रेमी पाठकगण उचित लाभ उठा कर मेरा परिश्रम सफल करेंगे।

सूर्यवंशी सिंह

विषय-सूची

क्रांतियुग की चिनगारियाँ

हिन्दुस्तान की आजादी का सवाल

[पं० जवाहरलाल नेहरू]

(१)

संकट के पिछले चन्द सप्ताह ने हम लोगों को चंचल कर दिया है। सौभाग्य से युद्ध तो किसी तरह उठा, लेकिन सर्वनाश तो हो कर ही रहा और भविष्य तो लड़ाई की सम्भावनाओं—और लड़ाई से भी बढ़ कर बदतर सम्भावनाओं से अन्धकार पूर्ण है।

यूरोप में जब परीक्षा का समय आ पहुँचा तो यह साफ जाहिर हो गया कि वास्तविक शान्ति और प्रगति के समर्थकों के अन्दर काफी मजबूती नहीं थी, यों कहिये कि संकट का मुकाबला करने की उनमें काफी दृढ़ता नहीं थी। विदेशी दुश्मनों ने उतना नुकसान नहीं पहुँचाया, जितना कि स्वयं अपने ही मुल्क के रहनेवाले प्रतिगामी लोगों ने जो कि विदेशी दुश्मनों के तरफ-

दार थे। उन्होंने पीछे से लोकतन्त्र और आज़ादी पर वार किये और यूरोप में हिंसा और पाशविक प्रतिगामी शक्ति की विजय सम्भव बना दी। इन तथा कथित लोकतन्त्रवादी मुल्कों की प्रतिगामी सरकारों की पराजय का शायद उतना डर नहीं था, जितना कि विजय का; क्योंकि यह विजय तो सच्चे लोकतन्त्र की विजय होती और सम्भवतः यूरोप में इससे फासिज्म का खात्मा ही हो जाता।

लेकिन इन्हें तो, चाहे जैसे हो, फासिज्म को यूरोप में बरकरार रखना था—इसके लिये कितनी ही कीमत क्यों न चुकानी पड़े। वह कीमत बेशक बहुत बड़ी है और जब तक सारा संसार सर्वनाश को प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक तो वह कीमत चुकानी पड़ती ही रहेगी!

हिन्दुस्तान के लोग बड़े दुःख और दर्द के साथ घटनाचक्र को देखते रहते हैं। हिन्दुस्तानी शान्ति और लोकतन्त्रवादी स्वाधीनता के हामी हैं; इसलिये लोकतन्त्र के पूर्ण आत्मसमर्पण को देख-देख कर उन्हें बड़े ही जबर्दस्त आघात लगते रहे हैं। उनके लिये संतोष की बात इतनी ही है कि इस अपमान और विश्वासघात में उनका कोई हाथ नहीं रहा है।

आज तो सारी पूर्वी दुनिया से इङ्गलैण्ड और फ्रांस की धाक और प्रतिष्ठा बिलकुल उठ चुकी है। दुर्भाग्य से इन देशों के प्रगतिशील पक्षवालों की प्रतिष्ठा भी इससे नष्ट हो गयी है और उन पर अब किसी को क़तई कोई भरोसा नहीं। जब सङ्कट सर पर आया तो वे कुछ भी न कर सके, एक साथ मिल कर उसके

खिलाफ खड़े भी न हो सकें; और ताज्जुब की बात तो यह है कि अभी तक उन्होंने इस घटना से काफी सबक नहीं लिया है। हिन्दुस्तान तो आज पहले से भी ज्यादा इस बात को महसूस कर रहा है, कि अपनी संगठित ताकत और आत्मबलिदान द्वारा ही वह अपने पूर्ण स्वराज्य के ध्येय को प्राप्त कर सकता है।

हिन्दुस्तान की आत्म-निर्भरता

हिन्दुस्तान अब कमजोर नहीं है; इसमें आत्मनिर्भरता आ चुकी है और अपनी बढ़ती हुई ताकत को यह महसूस कर रहा है। इसके अलावा, हिन्दुस्तान यह सीख चुका है कि चाहे जो भी नतीजा निकले, लेकिन हम बुराई और अपने से ज्यादा शारीरिक बल के सामने घुटने नहीं टेक सकते। इसलिये अपने मुल्क की आजादी हासिल करने के लिये तो हम अपनी ताकत पर ही भरोसा रखते हैं। लेकिन मौजूदा दुनिया में—खास कर म्यूनिच की घटना और यूरोप में फासिस्टों के बोलबाला को देखते हुए संकीर्ण राष्ट्रीय दृष्टिकोण से ही विचार करना मूर्खता होगा।

हाल की घटनाओं ने आश्चर्यजनक स्पष्टता के साथ यह दिखा दिया है कि स्वाधीनता अविभाज्य है, आजादी के टुकड़े नहीं हो सकते। यह मुमकिन नहीं, कि दुनिया के कुछ हिस्सों में तो आजादी और लोकतंत्र कायम रहे और दूसरे हिस्सों में आजादी का कतई नाम-निशान भी न हो। दोनों के बीच संघर्ष हो कर ही रहेगा, क्योंकि फासिज्म की नजरों में तो लोकतंत्रवादी स्वतन्त्रता का अस्तित्व ही एक भारी अपराध है, इसलिये फासिज्म तो हमेशा

ही दूसरे मुल्कों की लोकतंत्रवादी स्वाधीनता का नाश करने की कोशिश में लगा रहता है।

इसलिये इस वस्तुस्थिति को देखते हुए दो ही रास्ते रह जाते हैं—या तो फासिज्म के सामने आत्मसमर्पण की नीति अख्तियार करें और स्वाधीनता का गला घोटते जायं, अथवा डट कर फासिस्टों के आक्रमण का मुकाबला किया जाय और इसके सामने सिर झुकाने से इनकार कर दिया जाय। ब्रिटिश गवर्णमेण्ट ने यहाँ बतायी हुई पहली नीति अख्तियार कर रखी या ऐसा कह सकते हैं कि उनके लिये यह आत्मसमर्पण नहीं, क्योंकि वे तो खुद ही फासिज्म के हामी हैं। लेकिन जिन्हें आजादी और लोकतंत्र की परवाह है, वे क्योंकर ऐसी नीति अख्तियार कर सकते हैं? फिर वे क्या करें?

स्पेन के प्रजातंत्र का तो यही नारा है कि—'मुकाबला करना ही फतह है' और इस नारे को शान के साथ उन्होंने कार्यान्वित किया है। यूरोप में अकेले वे ही हैं, जिन्होंने दिखा दिया है कि लोकतंत्र, अगर वह चाहे तो, मुसीबतों के पहाड़ सर पर टूटने पर भी अपना बचाव कर सकता है।

हमें अगर फासिज्म का मुकाबला करना है तो इसी तरह के ख्याल को सामने रख कर ऐसा किया जा सकता है। यह निश्चय कर लेना होगा कि मौत का मुकाबला होने पर भी हम आत्म-समर्पण नहीं करेंगे, बल्कि अपनी आजादी और सिद्धान्त पर पूरी दृढ़ता के साथ आखिरी दम तक डटे रहेंगे।

इङ्गलैण्ड अगर सचमुच लोकतंत्र के लिये लड़ता, तो निस्स-

न्देह सारे संसार की सहानुभूति और समर्थन उसको मिला होता। लेकिन अपने उपनिवेशों को अपने अधीन बनाये रखने के लिये लड़नेवाले साम्राज्यवादी इङ्गलैण्ड के साथ कौन सहानुभूति दिखायगा ?

इङ्गलैण्ड और फ्रांस की कमजोरी

पिछले सङ्कट के दिनों में इङ्गलैण्ड और फ्रांस की सबसे बढ़ कर कमजोरी थी—उनका साम्राज्य। साम्राज्यशाही कभी लोकतन्त्र का समर्थन नहीं कर सकती। वह फासिज्म का पुरजोर तरीके से मुकाबला नहीं कर सकती, क्योंकि वह तो दिल से फासिज्म के प्रति सहानुभूति रखती है। ब्रिटेन और साथ ही फ्रांस के साम्राज्य का बहुत जल्द ही अन्त होगा, लेकिन अगर उनकी मौजूदा नीति बनी रही, तो न केवल साम्राज्य का खात्मा होगा, बल्कि उनको जलील भी होना पड़ेगा और उनके स्थान पर फासिस्ट साम्राज्य कायम होंगे।

सामूहिक संरक्षण का उद्देश्य था विभिन्न राष्ट्रों के हिंसात्मक आक्रमणों को रोकना। लेकिन साम्राज्यवादी आधार पर अवलम्बित होने के कारण यह सामूहिक संरक्षण की नीति सफल नहीं हो सकी, और जब तक इसी आधार पर यह कायम रहेगी तब तक यह कामयाब नहीं हो सकती। फिर भी, संसार में अगर न्याय और शान्ति कायम रखनी है तो सामूहिक संरक्षण की व्यवस्था निहायत जरूरी है।

अब तो हम लोगों के देखते ही देखते, हम लोगों की नजरों

के सामने, एक नये यूरोप का—एक नये संसार का निर्माण हो रहा है। हमें उसे समझना चाहिये और उसके अनुकूल अपने को बनाना चाहिये। घटनाचक्र बड़ी तेजी के साथ बदल रहा है और अब तक हम जो कुछ देखते आये हैं उसमें बहुत कुछ तब्दीलियाँ हो रही हैं।

एक हिन्दुस्तानी की हैसियत में मैं हिन्दुस्तान की आजादी तहेदिल से चाहता हूँ और इसके लिये मैं कोशिश करता रहूँगा। लेकिन अब तो मैं पहले से भी बढ़कर यह महसूस कर रहा हूँ कि अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से भी फासिज्म का मुकाबला करने के लिये हिन्दुस्तान का आजाद होना निहायत जरूरी है। आजाद और लोकतन्त्र भारत ही दुनिया के दूसरे हिस्सों के लोकतन्त्र को मदद पहुँचा सकता है। साम्राज्य-शाही के अँगूठे के नीचे दबा हुआ पराधीन भारत तो दुनिया के लोकतन्त्र के लिये भारस्वरूप ही होगा और यह बोझ बढ़ता ही जायगा और इस तरह लोक-तन्त्रवादी मोर्चे को यह कमजोर बनायगा।

ब्रिटिश साम्राज्य-शाही को आज फिलस्तीन में अपनी ही पैदा की हुई जटिल समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है और इसने तो वहाँ भारी घोटाला कर रखा है। सरकार इस समस्या को आतंकवादी तरीकों से कभी हल नहीं कर पायगी; वह अपनी किसी भी साम्राज्यशाही समस्या को भय प्रदर्शन द्वारा नहीं सुलझा पायगी। इस नीति से तो वह खुद अपने को कमजोर बना रही है और उन मुल्कों में फासिस्टों की ताकत को बढ़ायगी, जैसा कि हम आज अरब की दुनिया में देख रहे हैं।

फिर हिन्दुस्तान का तो कहना ही क्या; यह तो फिलस्तीन से कहीं बड़ा देश है।

ब्रिटेन का अगर लोकतंत्र में विश्वास है, तो उसके लिये एक ही उपाय है—और वह यह, कि साम्राज्य का मोह छोड़कर उसके स्थान में उन मुल्कों में लोकतंत्र कायम करे; इससे उसकी ताकत घटेगी नहीं, बल्कि बढ़ेगी; क्योंकि वे मुल्क तब उसके बड़े ही शक्तिशाली मित्र होंगे। आजाद लोकतंत्र भारत बेशक यूरोप और एशिया में फासिज्म के खिलाफ एक जबर्दस्त ताकत होगा।

मौजूदा परिस्थिति को स्वीकार कर नष्टप्राय लोकतंत्र को कायम रखने के लिये हिन्दुस्तान से ब्रिटेन को सहयोग देने के लिये कहने का मतलब तो यह है कि वे हिन्दुस्तान के मौजूदा रुख को या यूरोप के घटना-क्रम को समझना नहीं चाहते।

---

(२)

बृटिश साम्राज्य से सम्बन्ध नहीं रखेंगे!

पूर्ण स्वतंत्रता की घोषणा

[स्वतन्त्रता की घोषणा सम्बन्धी निम्नलिखित प्रस्ताव कांग्रेस कार्य समिति द्वारा २ जनवरी १६३० को स्वीकृत किया गया था। कार्य समिति ने देश भर में घोषणा के पढ़े जाने के लिए २६ जनवरी १६३० को "पूर्ण स्वराज्य दिवस" निश्चित किया था]

"हमारा विश्वास है कि दूसरी जातियों की तरह हिन्दुस्तान में रहनेवालों का यह अमिट अधिकार है कि वे स्वतंत्र रहें और अपनी मेहनत के फल का उपभोग कर सकें और उनके पास जीवन की आवश्यक सामग्री हो ताकि उनको उन्नति करने का पूरा मौका मिल सके। हमारा यह भी विश्वास है कि यदि कोई सरकार किसी जाति का यह अधिकार छीन ले और उस पर जुल्म करे, तो उस जाति का भी यह हक हो जाता है कि उस सरकार को बदल दे या मिटा दे। हिन्दुस्तान की अंग्रेज सरकार ने हिन्दुस्तानियों की न केवल आजादी छीन ली है बल्कि वह जनता की लूट की बुनियाद पर ही क़ायम है और उसने हिन्दुस्तान को आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक तौर पर तबाह कर दिया है। इसलिये हमारा विश्वास है कि हिन्दुस्तान के लिए अंग्रेजी तअल्लुक़ तोड़ना और पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करना जरूरी है।

"हिन्दुस्तान आर्थिक दृष्टि से तबाह कर दिया गया है। हमारी आमदनी के लिहाज से हम लोगों से बहुत ज्यादा कर वसूल किया जाता है। हमारी औसत रोजाना आमदनी सात पैसा है और कर की जो बड़ी रकम हम देते हैं उसका २० प्रतिशत तो किसानों से मालगुजारी की सूरत में वसूल किया जाता है और ३ प्रतिशत नमक के कर से आता है, जिससे गरीबों को बड़ी तकलीफ होती है।"

"देहातों के कताई के किस्म के उद्योगधन्धे बरबाद कर दिये गये हैं, और जैसा कि दूसरे देशों में किया गया है, इन बरबाद

की गयी दस्तकारियों की जगह में दूसरी दस्तकारियों का प्रचार नहीं किया गया है। इसका नतीजा यह हुआ है कि किसान साल में कम से कम चार महीने बेकार रहते हैं और किसी प्रकार की दस्तकारी के न होने से उनके दिमाग भी कुन्द हो जाते हैं।

हिन्दुस्तान से बाहर जानेवाले और बाहर से यहाँ आनेवाले माल पर जो जक़ात ली जाती है वह ऐसी कायम की गई है और मुद्रा सम्बन्धी नियम इस प्रकार बनाये गये हैं कि उनसे किसानों पर और भी बोझ लद जाता है। हमारे यहाँ जो माल बाहर से आता है उसमें आधा हिस्सा इंग्लिस्तान में बने हुए माल का है। जो जकात आनेवाले माल पर ली जाती है उसके दर को देखने से मालूम होगा कि उससे अंग्रेजी माल को फायदा पहुँचता है और इस तरीके पर जो आमदनी होती है उससे किसानों का बोझ कम करने के बदले, यहाँ की हुकूमत का, जो निहायत ही फिजूलखर्ची से चलायी जाती है, खर्च निकाला जाता है। विदेशी विनिमय की दर तो ऐसी मनमानी से कायम की गयी है कि उससे इस देश के करोड़ों रुपये बाहर खिंचते चले जाते हैं।

"राजनीतिक दृष्टि से हिन्दुस्तान का दर्जा जितना अंग्रेजी राज में गिर गया है उतना कभी नहीं गिरा था। किसी सुधार से जनता को असली राजनीतिक अधिकार नहीं मिले हैं। इसमें से जो सबसे बड़े हैं उन्हें भी विदेशी अधिकारियों के सामने झुकना पड़ता है। आज़ादी के साथ असली राय जाहिर करने और संगठित होने के अधिकार हमें हासिल नहीं हैं और हमारे बहुत से देशवासी विदेशों में रहने के लिए मजबूर हैं और हिन्दुस्तान नहीं

लौटने पाते। हमारी हुकूमत करने की लियाक़त का खून होता है और लोगों को छोटे छोटे देहाती ओहदों और मुहर्रिरियों पर ही सन्तोष करना पड़ता है।

"सांस्कृतिक दृष्टि से यदि देखा जाय तो हमारे यहाँ शिक्षा की जो पद्धति चलायी गयी है उसने हमको भारतीय संस्कृति की आधारशिला से पृथक कर दिया है। हमारी शिक्षा का यह फल हुआ है कि हम उन्हीं "जंजीरों" को मुहब्बत से गले लगाते हैं जो हमें बाँधे हुए हैं।

"आध्यात्मिक दृष्टि से अगर देखा जाय तो जबर्दस्ती हथियारों के छीन लेने का नतीजा यह हुआ है कि हम कायर हो गये हैं और विदेशी सरकार ने अपना कब्जा बनाये रखने के लिए जो विदेशी फ़ौज रख छोड़ी है, जिसके जरिये से हमारे दिलों में मुकाबिले का खयाल भी पीस डाला जाता है, उसके रहने की वजह से हमारे दिलों में यह खयाल बैठ गया है कि हम अपना काम खुद नहीं चला सकते और न विदेशी हमलों का सामना कर सकते हैं; यहाँ तक कि चोरों, डाकुओं और बदमाशों से अपने घरों और कुटुम्बों की रक्षा नहीं कर सकते।

"हमारी यह पक्की धारणा है कि जिस हुकूमत ने हमारे मुल्क पर यह चौतरफी बरबादी ढायी है, उसकी मातहती में अब रहना ईश्वर और मनुष्य की दृष्टि में पाप करना है। लेकिन हम इस बात को मानते हैं कि अपनी स्वाधीनता प्राप्त करने का सबसे अच्छा साधन हिंसा नहीं है। इसलिये हम अपने 'को इस प्रकार तय्यार करेंगे कि जहाँ तक हमसे बन पड़ेगा ब्रिटिश सरकार से

अपनी खुशी से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रक्खेंगे और सत्याग्रह के लिए, जिसमें कर न देना भी शामिल है, तय्यारी करेंगे। हमको इस बात का निश्चय हो गया है कि यदि हम अपनी इच्छा से सरकार की मदद करना छोड़ दें और कर देना बन्द कर दें और इसके साथ ही उसकी ओर से छेड़े और सताये जाने पर भी अहिंसा पर दृढ़ रहें, तो इस अमानुषिक हुकूमत का अवश्य अन्त हो जायगा। इसलिए हम अब गंभीरता पूर्वक निश्चय करते हैं कि पूर्ण स्वराज्य क़ायम करने के लिये समय समय पर कांग्रेस जो आदेश देगी, हम उनपर अमल करेंगे।"

अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का भारत पर प्रभाव

(२)

दूसरे देश में जब स्वराज्य चाहनेवालों की जीत होती है तो हमारे देश में भी स्वराज्य चाहनेवालों की शक्ति बढ़ती है और जब किसी दूसरे देश में स्वराज्य चाहनेवालों को दबानेवाली शक्ति की जीत होती है तो हमारे देश में भी ऐसे लोगों का बल बढ़ जानेका खतरा पैदा हो जाता है। अब हमारा मुल्क इधर अधिक ध्यान देने लगा है। चीन में कुछ डाक्टर और स्पेन में कुछ अन्न भी उसने भेजा है। कुछ लोग कहते हैं कि जब हमारे देशवासी ही भूखे मर रहे हैं तो हम दूसरे देशवालों की

क्या सहायता कर सकते हैं। मगर ऐसे लोगों को समझना चाहिये कि क्या १०-२० डाक्टर या १००-२०० मन चावल किसी देश में भेज देने से वहाँ की तकलीफ रफा हो जाती है? नहीं, किन्तु इस चीज से आपके देश के लोगों का ऊँचा विचार प्रकट होता है। इन बातों से आप अपनी राय भी प्रकट कर देते हैं कि हमारी सहानुभूति अमुक के साथ है।

हम जो स्वराज्य चाहते हैं उसका मतलब जनता का राज है। इसलिए जनता को भी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति समझते रहना चाहिये। अपने देश को बड़ा बनाने और उसका सिर ऊँचा रखने के लिए सब से पहले यहाँ के लोगों को बड़ा बनना और अपने विचारों को ऊँचा रखना चाहिये। ऐसा करने से आप का ध्यान छोटे मोटे प्रश्नों से आप ही हट जायगा।

विदेशों में भारत की मानवृद्धि

दुनिया में हिन्दुस्तान की कदर आज बढ़ गयी है। दूसरे देश यह समझ रहे हैं कि हिन्दुस्तान जल्द ही आजाद होगा। वे चाहते हैं कि इस धनी देश से अभी से मेल बढ़े ताकि हिन्दुस्तान के आजादी पा जाने पर वे अपनी तिजारत आदि बढ़ा सकें। १०-२० साल की कशमकश के बाद अब हम भी भजे में अन्दाजा लगा रहे हैं कि हमारी ताकत बहुत बढ़ गयी है। इस वक्त बाहरी कोई शक्ति ऐसी नहीं है जो हमें अपने रास्ते में आगे बढ़ने से रोक सके। अब हमारे आगे बढ़ने में रुकावट डाल सकने वाली कोई चीज़ है तो वह हमारी अन्दरूनी कमजोरी है।

इस समय दुनिया में सब जगह लड़ाई की तैयारी हो रही है। न मालूम दुनिया का नकशा कब कैसा बदल जाय। ऐसे अवसर से पूरा पूरा फायदा उठाने के लिए हमें भी अपनी अन्द-रूनी कमजोरी को दूर कर तैयार रहना चाहिये। कांग्रेस के अन्दर भी कुछ खराबियां पैदा हो गयी हैं उन्हें भी जल्द दूर कर डालना चाहिये।

रियासती प्रजाका संग्राम

आजकल काश्मीर से कन्या कुमारी तक सभी रियासतों में एक बड़ा जोरदार आन्दोलन छिड़ा है। इससे मालूम होता है कि इन जगहों की जनता भी जाग उठी है, जो देश की आजादी चाहने वालों के लिये आशाजनक बात है। यह लड़ाई राजा नवाबों से नहीं बल्कि एक तरह से ब्रिटिश साम्राज्यवाद से है। इस कारण आजकल हमारे सामने रियासतों के आन्दोलन का प्रश्न भी उपस्थित है और इससे कई जगह हिन्दू मुसलिम सवाल भी पैदा हो गया है। बहुत से लोग इसपर जोश में आकर विचार कर रहे हैं जिससे सम्भवतः वे ठीक विचार नहीं कर पाते। ऐसे लोग जरा दूर तक सोचें तो कोई गड़बड़ नहीं हो सकती। इधर एक बार सब जगह हैदराबाद दिवस मनाया गया था। तभी से लोगों में कुछ साम्प्रदायिक जोश नजर आने लगा है। मैं भी इसका पक्षपाती हूं कि रियासतों में आजादी की लड़ाई होनी चाहिये चाहे वह कोई भी रियासत हो। मगर मैं चाहता हूं कि कहीं ऐसी लड़ाई न हो जिससे सारे देश के सामने एक नया और

फिजूल का प्रश्न खड़ा हो जाय। इन्हें न पैदा होने देने के लिए रियासतों में आन्दोलन आरम्भ करने के वास्ते अच्छा मौका ढूंढ़ते रहना चाहिये। रियासत वाले राजनीतिक लड़ाई को सांप्रदायिक रूप देते हैं। हैदराबाद के मामले को भी सांप्रदायिक रूप दे दिया गया है। इस राज्य का मामला ठीक काश्मीर की तरह है। इन दोनों जगहों की प्रजा बड़ी दुखी है। हैदराबाद की प्रजा अधिकतर हिन्दू और राजा मुसलमान तथा काश्मीर की प्रजा अधिकतर मुसलमान और राजा हिन्दू है। प्रजा अपने कष्ट को दूर कराने को जब आन्दोलन करेगी तो वह काश्मीर में ज्यादा मुसलिम प्रजा द्वारा अपने हिन्दू शासक के विरुद्ध तथा हैदराबाद में हिन्दू प्रजा द्वारा अपने मुसमान शासक के विरुद्ध होगा। ऐसी अवस्था में इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि लोगों को सत्याग्रह करने का उद्देश्य खूब समझा बुझा दिया जाय। ऐसा न करने से ही हैदराबाद वाले मामले ने सांप्रदायिक रूप ग्रहण कर लिया। कुछ जगहों में कांग्रेस के लोग भी इस आन्दोलन में शामिल हुए मगर उनकी गलती थी।'

(४)

भारतीयो, तैयार हो जाओ

सामन्तशाही के सरपरस्त ब्रिटिश साम्राज्यवाद से लोहा लेने के लिए

हमारे सामने सवाल

हमारे सामने सवाल है—हिन्दुस्तान की स्वाधीनता प्राप्त करना और इस देश में स्वतन्त्र, संयुक्त लोकसत्तात्मक राज्य स्थापित करना। इस दृष्टिकोण से हर बात का विचार होना चाहिये।

दुनिया तेजी से आगे दौड़ रही है और भीषण प्रतिक्रिया उसका गला पकड़ रही है। इधर हिन्दुस्तान में व्यापक जन-आन्दोलन फिर से चल रहे हैं और साथ ही भेदभाव बढ़ाने वाली शक्तियाँ अपना कुरूप प्रकट कर रही हैं। हम लोग उस ललकार-का सामना कैसे करेंगे ?

रियासती लोगों का आन्दोलन

आज दिन सबसे बड़ा सवाल है—हिन्दुस्तानी रियासतों का, उन रियासतों के लोगों का, जो धीरता सहित इतने दिनों तक अत्याचार और कुशासन सहते आये हैं। अब वे सहना नहीं चाहते और उत्तर में हिमालय की घाटियों से सुदूर दक्षिण में

कन्याकुमारी तक लाखों करोड़ों रियासती जन जाग उठे हैं और उस स्वतन्त्रता की ओर चल रहे हैं जिससे वे अभी तक वंचित रखे गये हैं। आज दिन हमको ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अनेक कुत्सित रूपों में से एक का सामना करना पड़ रहा है—उस रूप का जो इन रियासतों की सामन्तशाही और गुलामी हालत का सरपरस्त और हिमायती बना हुआ है। आज दिन, पहले ही की तरह, गांधीजी हिन्दुस्तान की नर्म मगर मजबूत आवाज हैं जो इस साम्राज्यवाद को ललकार रही है और उससे लड़ने के लिए तैयार हो रही है। इस मुख्य लड़ाई के सामने और सब कुछ गौण है क्योंकि वह अपने प्रवाह से संघ, प्रान्तीय स्वतन्त्रता और दूसरी बाधाओं को हमारी स्वतन्त्रता की लड़ाई में मिला देगी।

राजकोट उस पकड़ में आ चुका है और महान तथा माननीया महिला कस्तूर बा बुढ़ापे में फिर जेल गयी हैं। जयपुर ने सम्राज्यवाद की ललकार स्वीकार कर ली है और हिन्दुस्तान के विश्वासपात्र सेवक जमनलाल बजाज जेल के अन्दर ठेल दिये गये हैं। उड़ीसा में ब्रिटिश साम्राज्यवाद अत्याचार, भ्रष्टता और परले दर्जे का अधःपात बनाये रखने तथा रियासती लोगों के नये उत्थान को कुचलने के लिए अपनी सेना जमा कर रहा है। ट्रावंकोर में स्वेच्छाचारिता फासिस्ट का रूप धारण कर रहा है और फिर संग्राम छिड़ रहा है। मैसूर में फिर संघर्ष का आरम्भ है। हैदराबाद और काश्मीर जैसी बड़ी रियासतों में जन-आन्दोलन साम्प्रदायिकता के वाहियात बहाने पर कुचला जा रहा है।

हम लोग परित्रस्त होकर छोटी छोटी बातों में मन लगाने-

वाले हो गये हैं और अपनी बड़ी समस्याओं को भूल रहे हैं। मगर फिर हमारा आवाहन हो रहा है। हिन्दुस्तान पुकार रहा है और वह पुकार अधिक जोरदार और लगातार हो रही है। तैयार हो जाओ। भारत के स्त्री पुरुषों, तैयार हो जाओ। कूच करने का समय आ रहा है। तैयार हो जाओ।

---

(५)

भारत किधर जा रहा है ?

"पायोनियर" के लेखक का कहना है कि यदि राज्य ही एकमात्र पूँजीपति हो जाय तो मजूरों की हालत और बदतर हो जायगी क्योंकि उन्हें राज्य निर्दयता से चूसेगा। यह अभिनव तर्क है। साम्यवाद में राज्य की स्थिति क्या होती है और इस तरह की चुसाई से लाभ किसका होता है? यदि जनता अपने आपको ही चूसना चाहे तो मजे में ऐसा कर सकती है, पर ऐसा करने पर भी लाभ का अंश जनता को ही मिलेगा, किसी व्यक्ति अथवा समूह-विशेष को नहीं।

लेखक दुखी होकर पूछता है कि आखिर फालतू माल कहाँ जायगा। पूँजीपतियों के पुराने आर्थिक सिद्धांत के ढर्रे पर सोचने के सिवा लेखक और तरह से विचार कर ही नहीं सकता। सुव्यवस्थित और सुसंयोजित समाज में फालतू माल

बनेगा ही नहीं। जो कुछ बनेगा उससे लोगों के जीवन-क्रम के उन्नत होने में सहायता मिलेगी। परिश्रम का फल लोगों को जरूर मिलेगा। पूँजीवाद में लोगों का यह फल जबर्दस्ती छीन लिया जाता है इसीलिये हम उस प्रणाली का विरोध करते हैं। साम्य-वाद में ही लोगों को अपने परिश्रम का पूरा फल मिल सकता है।

यह बात बिलकुल सच है कि जब परस्पर सहयोग और निर्भरता का भाव होगा तब कोई व्यक्ति अथवा राष्ट्र पूर्ण स्वतन्त्र हो ही नहीं सकता। सामाजिक जीवन के प्रत्येक अंग में भी व्यक्तियों की स्वतन्त्रता मर्यादित रहती ही है। यह कहना तो बात बनाना है कि साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय संघ योजना में किसी राष्ट्रविशेष को स्वतन्त्रता हो ही नहीं सकती। जब अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के उद्देश्य से कोई राष्ट्र अपनी स्वतन्त्रता के कुछ अंश का त्याग करता है तो यह त्याग स्वातन्त्र्य हानि नहीं कहलाता। ग्रेट ब्रिटेन का अंग होनेसे वेल्स क्या कम स्वतन्त्र है?

"जी" का कहना है कि यह विचार ही मानने लायक नहीं कि उच्च और मध्यम श्रेणियों का हित किसान और मजूरों के हित के विरुद्ध है। पर तो भी अचरज है कि पाश्चात्य देशों के, जहाँ इस विषय पर विशेष विचार गया किया है, सभी विचारशील व्यक्तियों का यही मत है कि दोनों वर्गों का हित परस्पर विरोधी है। यदि "जी" इतिहास का अथवा इस विषय की किसी आधुनिक पुस्तक का अध्ययन करेंगे तो उनका भ्रम दूर हो जायगा। यदि वे किसी कारखाने में जाकर देखें तो भी उन्हें

पता लग जायगा कि मालिक और मजूर परस्पर के हित को एक दूसरे के विरुद्ध समझते हैं या नहीं।

दोनों ही आलोचकों की इससे बड़ी दिलचस्पी है कि अहिंसा के सम्बन्ध में मेरा क्या मत है। वे यह जानना चाहते हैं कि मैं जबरदस्ती करने का पक्षपाती हूँ या समझा बुझाकर राजी करने का। "जी" ने महात्मा गांधी के मत का उल्लेख करते हुए कहा है कि अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये किस प्रणाली का अवलम्बन किया जाय यही मुख्य विषय है। मैं नहीं जानता कि महात्माजी ने ऐसी कोई एकतर्फा बात कही है या नहीं। यह जरूर है कि आप इस पर बराबर जोर देते आये हैं कि हमारी प्रणाली अहिंसात्मक होनी चाहिये।

मेरे लेखों के सम्बन्ध में तो इस तरह का कोई प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि मैंने तो केवल ऐतिहासिक तथ्यों पर और इस पर विचार किया है कि हमारा लक्ष्य क्या होना चाहिये। मैंने किसी प्रणाली का उल्लेख तो किया नहीं। पर प्रश्नों का उत्तर दे देना अच्छा है।

साधन चाहे जितने महत्त्व का क्यों न हो मैं यह नहीं समझ सकता कि वह साध्य कैसे हो सकता है। यह अनिवार्य है कि अपना लक्ष्य स्थिर करके ही उसकी प्राप्ति के लिये कोई चेष्टा की जाय। कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध में मैं यह कह देना चाहता हूँ कि मेरे कार्यक्रम में धर्म और परोपकार का उपदेश करना शामिल नहीं। मेरे लिये न धर्म का कोई महत्त्व है न परोपकार-वृत्ति का। मैंने बहुधा देखा है कि धर्म और परोपकार के नाम पर दंभ और

स्वार्थपरता का ही खेल होता है। सदाचार, नैतिकता, सत्यता आदि गुणों पर मैं जरूर विश्वास करता हूँ पर मेरे विश्वास करने से ही वे साधन नहीं बन जाते, साधन के अंग अवश्य हैं।

जबरदस्ती करना या समझाना बुझाना इन दोनों में राज्य-प्रणाली के सिद्धांत का मूल आधार क्या है? और वर्तमान सामाजिक प्रणाली का? क्या जबरदस्ती और लादी गयी समानता दोनों का आधार नहीं? फौज, पुलिस, कानून, जेल, कर आदि सभी जबरदस्ती की प्रणाली हैं। जमींदार जो लगान और तरह तरह के नाजायज कर वसूल करते हैं सो जबरदस्ती पर ही भरोसा रखते हैं, रैयतों को समझाने बुझाने पर नहीं। मजूरों को पेट भरने लायक भी मजूरी न देनेवाले कारखाने के मालिक भी मजूरों को मनाने पर भरोसा नहीं रखते। जमींदार और कारखानदार दोनों जबरदस्ती करने में राज्य की संघटित शक्ति से सहायता लेते हैं। मजूरों को काम न करने देने के लिये कारखाने का द्वार बन्द कर देना या मजूरी घटाने की कोशिश करना क्या समझा बुझाकर अपने पक्ष में करना कहा जायगा? यह समझ लेना अच्छा है कि अधिकारवान या सम्पत्तिवान वर्ग जबरदस्ती करने से ही अपने पद पर बना है और समझाने बुझाने की बात कहना उस वर्ग को शोभा नहीं देता। वर्तमान प्रणाली के विरुद्ध और साम्यवाद के पक्ष में सबसे बड़ी दलील यही है कि साम्यवाद से जबरदस्ती होना घट कर धीरे धीरे बिलकुल दूर हो जायगा।

प्रश्न यह है कि वर्तमान प्रणाली के बदले हम सहयोग के आधार पर स्थित प्रणाली कैसे प्रचलित कर सकते हैं? और

स्वत्व प्राप्त वर्गों को किस तरह स्वत्व से हटा सकते हैं ? "पायो-नियर" के लेखक का कहना है, जो ठीक ही है, कि न तो पूंजी-पति वर्ग चुपचाप अपनी सम्पत्ति से वंचित होना चाहेगा न स्वत्व प्राप्त वर्ग, अपने स्वत्व से। इतिहास भी हमें यही बताता है कि कभी कहीं किसी स्वत्वप्राप्त वर्ग-समूह अथवा राष्ट्र ने स्वेच्छा से अपने स्वत्व अथवा स्वार्थ का त्याग नहीं किया। व्यक्तियों ने भले ही बहुधा ऐसा किया है पर किसी समूह ने कभी नहीं किया। सदा से यही होता आया है कि या तो जबरदस्ती की गयी है या दबाव डाला गया है या ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी गयी है कि स्वत्वप्राप्त वर्गों के लिए उस परिस्थिति में रहना या तो असम्भव हो गया है या हानिकर। ऐसा होने से ही स्वत्वप्राप्त वर्ग विवश होकर ठीक रास्ते पर आ जाते हैं। यह विवशता पाशविक प्रणाली से भी उत्पन्न की जा सकती है और सभ्य प्रणाली से भी।

मुझे इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि भारत में राजनीतिक और सामाजिक क्रांति के लिये जबरदस्ती करना या दबाव डालना जरूरी है। अवश्य ही गत तेरह वर्षों का हमारा सार्वजनिक अहिंसात्मक आंदोलन ऐसा दबाव डालने के लिए बहुत बड़ा शक्ति-शाली अस्त्र प्रमाणित हुआ है। इसमें संदेह नहीं कि यह आंदो-लन विरोधी पक्ष के कितने ही व्यक्तियों को पक्षपाती बना लेता है और उस वर्ग के प्रभुत्व और दमन करने के नैतिक औचित्य को दूर करके उस वर्ग के विरोध भाव को अंशतः शिथिल कर देता है। पर वस्तुतः यह भी विरोधी वर्ग अथवा राष्ट्र को विवश करने का ही ढंग है। यह बिलकुल सच है कि जबरदस्ती करके

का यह ढंग बहुत ही सभ्य और नैतिक ढंग है और इससे हिंसा की अवांछनीय प्रतिक्रिया और प्रतिफल नहीं उत्पन्न होने पाता। मैं समझता हूँ कि हिंसात्मक युद्ध का स्थान यह नैतिक अस्त्र मजे में ले सकता है और यदि सभ्यता का अन्त नहीं हो जाता तो सभ्य संसार अपने झगड़े के निबटारे के लिये क्रमशः इस शान्ति-पूर्ण प्रणाली से काम लेने लग जायगा। पर मैं तो समझता हूँ और इसमें किसी को सन्देह भी नहीं हो सकता कि सार्वजनिक अहिंसात्मक आन्दोलन भी विवशता उत्पन्न करता है और विपक्षी को विवश करना ही उसका उद्देश्य होता है। वस्तुओं के बहिष्कार का उदाहरण इसका स्पष्ट प्रमाण है।

व्यक्तिगत रूप से मैंने तो अहिंसात्मक प्रणाली को स्वीकार कर लिया है। सिर्फ इसलिये नहीं कि वह मुझे जँचती है; बल्कि इसलिये कि भारत की वर्तमान परिस्थिति में वही प्रणाली सर्वथा उपयुक्त है। मेरी यह धारणा दृढ़ हो गयी है। पर यह मैं बार बार कह चुका हूँ कि अहिंसा सिद्धान्त को मैं निभ्रान्त नहीं समझता। मैं हिंसा से अहिंसा को कहीं बढ़ कर जरूर समझता हूँ पर अहिंसा का आश्रय लेकर परतन्त्र बने रहने की अपेक्षा हिंसा का आश्रय लेकर स्वाधीन होने को उससे भी बढ़ कर समझता हूँ। पर आज मेरे सामने हिंसा का प्रश्न उठता ही नहीं क्योंकि मेरा विश्वास है कि अभी बहुत दिनों तक हमारे लिये अहिंसात्मक प्रणाली ही सबसे अधिक प्रभावकर प्रणाली बनी रहेगी। मैं यह भी कह देना चाहता हूँ कि अहिंसात्मक असहयोग अथवा सविनय अवज्ञा को मैं अभावसूचक और सहिष्णुता

की प्रणाली नहीं समझता, उसे तो मैं जनता की इच्छा को कार्य रूप में परिणत कराने की बहुत ही जबरदस्त प्रणाली समझता हूँ।

राजसत्ता जनता के हाथ में आ जाने पर हिंसा और अहिंसा का प्रश्न अवश्य उपस्थित होगा। विरोधी वर्गों द्वारा शासन की नयी प्रणाली को उलट देने का प्रयत्न हो सकता है। उस समय "जी" नयी सरकार को यह सलाह देंगे कि इन विरोधी दलों को रास्ते पर लाने के लिये सरकार अपनी शक्ति का उपयोग करे, या आप समझते हैं कि धर्म और परोपकार का उपदेश देने से ये लोग मान जायंगे? फिर नयी सरकार को ऐसे कानून बनाने पड़ेंगे जिन से स्वत्व प्राप्त वर्गों का स्वत्व छिन जायगा। उस समय "जी" इन वर्गों को कानून मान लेने की सलाह देंगे या उसका विरोध करने की? यदि विरोध हुआ तो उसका प्रति-कार कैसे किया जायगा?

एक और विषय है जिस पर मैं विचार करना चाहता हूँ। वह विषय है खद्दर। मैं व्यावसायिक उन्नति में और बड़े बड़े कल कारखानों में विश्वास रखता हूँ और चाहता हूं कि भारत भर में नये नये कारखाने खुलें। मैं भारत की सम्पत्ति को बढ़ाना और भारतीय जनता के जीवन-क्रम को उन्नत बनाना चाहता हूँ मेरे विचार से ऐसा तभी हो सकता है जब व्यवसाय की उन्नति वैज्ञा-निक ढंग पर की जाय। वर्तमान परिस्थिति में देश में व्यवसाय का बढ़ना अनिवार्य है। तो भी मैं देश की वर्तमान अवस्था में चरखे और खादी का समर्थन करता हूं। मेरे विचार से सम्प्रति चरखे और खादी का आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक तीनों

दृष्टियों से विशेष महत्त्व है। किसानों की वर्तमान सामाजिक अवस्था में चरखा और खादी का व्यवसाय बहुत ही उपयुक्त है और इस व्यवसाय से किसानों को कुछ सहायता भी मिलती है और उनमें आत्मनिर्भरता भी आती है। इसके द्वारा जनता से हमारा सम्बन्ध बढ़ता है और उसके संघटन में हमें सहायता मिलती है। यह अमोघ राजनीतिक अस्त्र है क्योंकि इससे विदेशी वस्त्र का बहिष्कार करने में सहायता मिलती है। साथ ही हिन्दुस्तानी मिलवालों को अपने कपड़े का दाम बढ़ाने में भी इससे रुकावट होती है। महासमर के समय विदेशी कपड़ा आना बन्द हो जाने से हिन्दुस्तान में कपड़े की कहत पड़ गयी। हिन्दुस्तानी मिलवालों ने अपने कपड़े का दाम बेहद बढ़ा कर खूब नफा उठाया। ऐसा मौका मिलते ही ये फिर अपना स्वार्थ साधन करने से कभी बाज न आवेंगे। पर खादी से विपत्ति के समय यह कमी बहुत कुछ पूरी हो सकती है और जनता हानि उठाने से भी बच सकती है। इसमें सन्देह नहीं कि खादी के प्रचार का औचित्य बहुत कुछ सिद्ध हो चुका है। इसमें भी सन्देह नहीं कि खादी तैयार करने का ढंग असामयिक है और खादी से न तो देश की सम्पत्ति बढ़ सकती है न जनता का जीवन-क्रम उन्नत होने में ही उससे सहायता मिल सकती है। इसलिये मेरी समझ से बड़ी बड़ी मशीनों का लगाना जरूरी है। खादी के कारण इन मशीनों को कोई बाधा भी न पड़ेगी। यह संभव है कि कुछ दिनों में बड़ी बड़ी मशीनें एक ही व्यक्ति या वर्ग के हाथ में न रह जायँ। बिजली की शक्ति ने पिछले तीस वर्षों में संसार के व्यवसाय

को बहुत आगे बढ़ा दिया है और उसके और आगे बढ़ने की पूरी संभावना है।

अन्त में मैं "पायोनियर" के लेखक को विश्वास दिलाता हूं कि इंगलैंड का गला घोंटा जाय इसकी मुझे तनिक भी अभिलाषा नहीं। इंगलैंड के बहुतेरे गुणों पर मैं मुग्ध हूँ। मेरी यह धारणा है कि खुद इंगलैंड की अधिकांश जनता छोटे छोटे वर्गों द्वारा चूसी जाती है। मेरा यह विश्वास है कि ब्रिटिश साम्राज्य, साम्राज्यवाद और पूंजीवाद का स्वभावतः बहुत शीघ्र अन्त हो जायगा और मैं इसमें सहायक बनना चाहता हूँ।

---

(६)

सारा भारत एक राष्ट्र है*

कांग्रेस पूरे बल से रियासती प्रजा का साथ देगी

देशी राज्यों की प्रजा का प्रति वर्ष यह सम्मेलन हुआ करता है और इसमें राज्यों की समस्याओं पर विचार हुआ करता है तथा प्रति वर्ष अधिकांश देशी राज्यों में फैली हुई स्वेच्छाचारिता, कुशासन, असाधुता और नीचता के खिलाफ आवाज ऊँची की जाती है। इस संमेलन का उद्योग और राष्ट्रीय महासभा की चेष्टा सफल हुई और आज देशी रियासतों में जाग्रति

* लुधियाना में जो देशी राज्य-प्रजा सम्मेलन हुआ था। उसके सभापति पंडित जी थे। उसी समय का यह भाषण है।

दिखाई देती है। जब भविष्य में भारत की तवारीख लिखी जायेगी तो १९३८ का साल जाग्रति का वर्ष लिखा जायगा। सुदूर भविष्य के इतिहासकार इस जाग्रति पर आश्चर्य न करेंगे किन्तु उन्हें इस बात से तअजुब जरूर होगा कि जब सारी दुनिया की शासन प्रणाली बदल गयी तब भी भारत में कोटि-कोटि देशी राज्य की प्रजा कई पुश्त से असहनीय और भयानक अवस्था को कैसे बर्दाश्त करती रही।

सन् १९३८ ईस्वी का इतिहास बन चुका और अब हम सन् १९३९ के चौखट पर हैं। आजादी की लड़ाई का जोर बढ़ता जा रहा है और सारे हिन्दुस्तान की आँख देशी राज्यों की इस बड़ी लड़ाई की ओर लगी हुई है। ऐसे मौके पर आपने मुझे अपने सम्मेलन में बुलाया है और आप की आज्ञा मान कर मैं हाजिर भी हुआ हूँ। मैं आप के पास केवल इसलिए नहीं आया हूं कि मैं देशी राज्यों की प्रजा की आजादी की बड़ी इच्छा रखता हूं बल्कि ब्रिटिश भारत की सद्भावना लेकर आया हूं और हम आपके साथ हैं, इस प्रतिज्ञा का सन्देश देने आया हूं।

कांग्रेस की नीति

पिछले सालों में कितने ही व्यक्तियों ने देशी राज्यों के प्रति कांग्रेस की नीति के सम्बन्ध में बड़ी आलोचना-प्रत्यालोचना की है। कांग्रेस देशी राज्यों के मसले में भाग ले अथवा अलग रहे, इस पर बड़ी सरगर्मी से बहस हुई है। अब वे सब बहस-मुबाहसे खतम हो गये और आज व्यर्थ हैं, फिर भी देशी

राज्यों के सम्बन्ध में कांग्रेस-नीति कैसे इस रूप को प्राप्त हुई, इस पर प्रकाश डालना आवश्यक है। मैं इस नीति को पसन्द नहीं करता था अथवा किसी विशेष समस्या पर जोर देने का पक्षपाती भी न था। किन्तु परिस्थिति की दृष्टि से कांग्रेस की यह नीति ठीक थी और बाद की घटनाओं ने इसे पूर्ण रूप से साबित भी किया। घोर परिवर्तन या क्रांति की नीति ऐसी ही होनी चाहिये जिसमें सत्यता हो और परिस्थितिके अनुकूल हो। प्रकृत अवस्था से अलग होकर कड़े कड़े भाषण अथवा कड़े प्रस्ताव उस वातावरण को उत्पन्न नहीं करते जिसमें क्रांति का जन्म होता है। कृत्रिम रूप से भी वह परिस्थिति उत्पन्न नहीं की जा सकती और यदि जनता तैयार न हो तो सार्वजनिक आन्दोलन भी नहीं चलाया जा सकता।

कांग्रेस ने इस बात को महसूस किया। उसे यह भी मालूम था कि देशी राज्यों की प्रजा तैयार नहीं है, इसलिए उसने देशी राज्यों के बाहर ही अपनी ताकत लगायी। इसमें भी जरा सन्देह नहीं कि देशी राज्यों की प्रजा के ऊपर प्रभाव डालने का भी यह अच्छा तरीका था कि वह भी अपनी लड़ाई के लिए तैयार हो जाय।

हरिपुरा का प्रस्ताव

कांग्रेस की नीति में हरिपुरा का प्रस्ताव एक ऐतिहासिक घटना है और उसमें वह साफ साफ बता दिये गये थे। भारत की अखण्डता और एकता उस आजादी का मुख्यांश है जिसके लिये

हमारी लड़ाई और चेष्टा है। देशी राज्यों को भी वही राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये जो ब्रिटिश भारत को मिलनी चाहिये। इस बात के सिवा दूसरी कोई बात हो ही नहीं सकती। कांग्रेस ने पूरी आजादी और राज्यों में नागरिक स्वतन्त्रता की गारण्टी की फिरसे घोषणा की है। साथ ही उसने यह भी विघोषित किया है कि उक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए देशी राज्यों में उसे कार्य करने का हक और पूर्ण अधिकार है।

कांग्रेस हस्तक्षेप न करे इसका तो कोई सवाल ही न था। कांग्रेस भारतीय जनता की प्रतिनिधि है अतः भारत और उस की जनता के लिए कार्य करने में न तो कोई सीमा है और न उस की स्वतन्त्र गतिविधि के लिये कोई बन्धन है। जहाँ कहीं भारत के स्वत्व के लिए आवश्यक हो वहाँ हस्तक्षेप करना कांग्रेस का हक है, अधिकार है और कर्तव्य है। यदि वह ऐसा न करे तो वह अपना कर्तव्य पालन नहीं करती और वह जिसका प्रतिनिधित्व करती है उसे धोखा देती है।

कांग्रेस अबाध है

अब कांग्रेस और भारतीय जनता को निश्चित करना पड़ेगा कि वे कहाँ हस्तक्षेप करें और किस नीति से काम लें जिससे उनका हस्तक्षेप प्रभावशाली और परिणामकारक सिद्ध हो। यदि कोई बन्धन है तो उसे भी उसने ही बनाया है अथवा बाहर की परिस्थिति के अनुसार बनाया गया है, जिसे मानना बुद्धिमानी है। बाहर की कोई भी शक्ति कांग्रेस की गतिविधि पर उसी तरह

बन्धन नहीं लगा सकती जिस तरह कोई बाहरी शक्ति भारतीयों की महत्वाकांक्षाओं और उन्नति को सीमित नहीं कर सकती।

कांग्रेस को अच्छी तरह मालूम है कि देशी राज्यों का पीछे रहना हमारी राष्ट्रीय प्रगति में बाधक है और जब तक देशी राज्यों में जाग्रति न हो तब तक भारत आजाद हो नहीं सकता। कांग्रेस ऐसे आवश्यक और बड़े परिवर्तन के लिए उत्सुक थी। पर उसे यह भी मालूम था कि यह परिवर्तन नीचे से ही तब आयेगा जब देशी राज्यों में आत्मनिर्भरता हो, संघटन हो और संघर्ष के भार को वे स्वतः उठा सकें। कांग्रेस ने इसी पर जोर दिया था। यदि उसने ऐसा न किया होता तो यह धोखा होता और व्यर्थ के भ्रम को बढ़ाना होता। साथ साथ देशी राज्यों के ऐसे संघटन होने में देर होती जिनमें प्रतिनिधित्व और जनता की इच्छा का बल हो।

अखिल भारत की लड़ाई

जब हम हरिपुरा कांग्रेस के बाद की उन्नति को देखते हैं तब आज कांग्रेस की बुद्धिमानी साफ साबित होती है। सभी रियासतों में जाग्रति है। कितनी ही रियासतों में सार्वजनिक आन्दोलन चल रहा है। ब्रिटिश भारत के साथ रियासतों की प्रजा सामने आ रही है। आज वे भारत के साथ कदम बढ़ा रहे हैं और उनके संघर्ष से हमारी राष्ट्रीय राजनीति प्रबल हो उठी है। इसलिए विभिन्न रियासतों के इस संघर्ष को ठोस बना कर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के बड़े संघर्ष के सामना करने का समय

आ गया है। चाहे इस आन्दोलन का रूप भिन्न हो और हमारी लड़ाई के क्षेत्र कितने ही हों किन्तु स्वतन्त्रता के लिए अब अलग अलग लड़ाई नहीं है। जैसा कि गांधीजी ने कहा है कि जहां कहीं भी स्वतन्त्रता की लड़ाई हो वह अखिल भारत की लड़ाई है।

गांधीजी का नेतृत्व

देशी राज्यों के लिए खतरे का बड़ा नाजुक मौका है इसलिए यह ठीक ही हुआ है कि भारत के नेता, जो भारत की स्वतन्त्रता की सदैव चिन्ता करते थे और उसकी प्रतिष्ठा के लिए इच्छुक थे, अपनी पुरानी आवाज के साथ आज सामने आये हैं। वे हम में विश्वास और साहस उत्पन्न करते हैं। गांधीजी के नेतृत्व ने सभी बहस मुबाहसों को खतम कर दिया और व्यर्थ की युक्तियों को मिटा दिया। अब तो हमारे सामने साफ और निश्चित समस्या है।

हमारा विरोधी कौन है

भारत में कोई ६ सौ देशी राज्य हैं। इनमें बड़े भी हैं छोटे भी हैं और ऐसे नन्हें भी हैं जिन्हें नकशे में दिखाया भी नहीं जा सकता। उनमें भी बड़ी विभिन्नता है। कुछ ने उद्योग-धन्धे और शिक्षा में उन्नति की है और कुछ रियासतों में योग्य शासक अथवा योग्य मन्त्री हैं। उनमें अधिकांश गन्दी, अयोग्य और अनियन्त्रित स्वेच्छाचारिणी शक्तियां हैं जो कभी कभी गन्दे और गिरे हुए व्यक्तियों द्वारा संचालित होती हैं।

किन्तु चाहे शासक अच्छा हो या बुरा अथवा उनके मन्त्री योग्य हों या अयोग्य उनकी शासन प्रणाली में दोष है। संसार से ऐसी शासन प्रणाली का लोप हो चुका है, किन्तु अब तक भारत में इनका वजूद है। बहुत पहले भारत से भी इनका लोप हो जाना चाहिये था। हालां कि उनका धीरे धीरे नाश हो रहा है और वे जड़वत् हैं तथापि ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने सहारा देकर कृत्रिम रूप से उन्हें जीवित रखा है। ये भारत में ब्रिटिश शक्ति के प्रतिफल हैं जिन्हें अपने स्वार्थ के लिए साम्राज्यवाद दूध पिलाता है। भीषण क्रांति ने समूचे संसार को हिला दिया है परिवर्तित कर दिया है, साम्राज्य छिन्न भिन्न हो गये, नरेशों और छोटे मोटे शासकों का बड़ा दल नाश हो गया, फिर भी ये लोग भारत में अभी तक जीवित हैं। अब उनकी प्रणाली महत्व और शक्तिहीन है। ये केवल ब्रिटिश साम्राज्यवाद की बदौलत बचे हुए हैं। हमारे लिए भारत में नरेशों की शासन प्रणाली साम्राज्यवाद का अवशिष्टांश है। अतः जब संघर्ष आरम्भ हो तब हमें देखना होगा कि प्रकृत्या हमारा विरोधी कौन है।

संधियों की दलील

अब हमें देशी राज्यों की तथोक्त स्वतन्त्रता और प्रभुशक्ति के साथ की गयी उन सन्धियों की बात सुनायी जाती है जो परम पवित्र मानी जाती हैं जिनके लिए यह विश्वास किया जाता है कि वे सदैव इसी प्रकार कायम रहेंगी। हमने अभी उन अन्तर्राष्ट्रीय

सन्धियों और उन परम पवित्र प्रतिज्ञाओं की दशा देखी है जो साम्राज्यवाद के स्वार्थ-साधन के उपयुक्त नहीं रह जातीं। हमने इंगलैंड और फ्रांस का प्रतिज्ञा भंग सहयोगियों और मित्रों के साथ विश्वासघात और उनका नीचतापूर्ण परित्याग तथा इन सन्धियों की धज्जियां उड़ते हुए देखा है। चूंकि इससे हानि लोक-तन्त्र और स्वाधीनता पक्ष की हो रही थी इसलिए इधर ध्यान देने की जरूरत नहीं समझी गयी। पर जब निरंकुश शासन और साम्राज्यवाद को धक्का लगने की बारी आती है तब तो इन संधियों का पालन आवश्यक हो जाता है। चाहे इनमें दीपक लग गया हो और चाहे ये जनता के लिए प्रत्यक्षतः हानिकारक ही क्यों न हों, फिर भी इनकी रक्षा होनी ही चाहिये। यह वास्तव में बड़ी भयंकर बात है कि हम उन सन्धियों का पालन करने के लिए बाध्य किये जायं जिनमें प्रजा की न तो सम्मति ही ली गई और न जिनमें प्रजा का सहयोग ही था। प्रजा से यह आशा करना खामखयाली ही है कि वह अपने गले में छल बल से डाली गयी गुलामी की जंजीर को सदा पहने रहेगी और अपना खून चूस लेनेवाले नियमों का पालन करती रहेगी। हम न तो ऐसी सन्धियों को कोई महत्व देते हैं और न उसे किसी दशा में स्वीकार करने ही को तैयार हैं। हमारी दृष्टि में लोकमत ही सर्वोच्च शक्ति और अन्तिम अधिकारी है तथा लोकहित ही एकमात्र महत्व की वस्तु है।

स्वाधीनता की पोल

इधर थोड़े दिनों से देशी राज्यों की स्वतन्त्रता का एक नया

सिद्धान्त खड़ा किया गया है और इस सिद्धान्त की प्रवर्तक वही प्रभु शक्ति है, जिसने इन देशी राज्यों को अपने फौलादी पंजे में पकड़ और जकड़ रक्खा है। इसका औचित्य न तो इतिहास और न वैधानिक धाराओं द्वारा ही सिद्ध हो सकता है। हम इन राज्यों की उत्पत्ति की जाँच करें तो इनके अधिकांश शासक करद सामन्तों की श्रेणी में आ जायँगे। पर चूँकि व्यवहार और तथ्य ही पर्याप्त स्पष्ट हैं, अतः हमें वैधानिक अन्वेषण का कष्ट उठाने की कोई आवश्यकता नहीं। इन रियासतों को पूर्णतया अधीन रखने के लिए ही ब्रिटिश शक्ति द्वारा यह प्रथा चलायी गयी है और उस शक्ति का मामूली इशारा ही इन रियासतों के लिए उस आज्ञा के समान है जिसकी अवज्ञा करना इनके लिए खतरे से खाली नहीं। भारत सरकार का राजनीतिक विभाग डोरी खींचता है और ये रियासतें उसके ताल पर कठपुतली की तरह नाचने लगती हैं। स्थानीय रेजिडेण्ट तो इनका हर्त्ताकर्त्ता विधाता ही होता है। इधर कुछ दिनों से तो यह प्रथा ही चल पड़ी है कि देशी नरेश अपने राज्यों का मन्त्रिपद ब्रिटिश अधिकारियों को देने के लिए बाध्य किये जायँ। यदि इसी का नाम स्वतन्त्रता है तो इस बात का अध्ययन बड़ा मनोरंजक होगा कि ऐसी स्वतन्त्रता और घोर परतंत्रता में क्या अन्तर है।

वास्तव में न तो ये रियासतें स्वतन्त्र हैं और न निकट भविष्य में इनके स्वतन्त्र होने की कोई आशा ही है, क्योंकि भौगोलिक दृष्टि से यह प्रायः असम्भव है और साथ ही संयुक्त भारत की कल्पना के भी यह पूर्णतया प्रतिकूल पड़ता है। बड़ी रियासतों के

सम्बन्ध में यह वांछनीय और विचारणीय भी है कि उन्हें जहाँ तक सम्भव हो भारतीय संघ के अन्तर्गत स्थानीय स्वराज्य दिया जाय। पर इसके साथ ही उन्हें भारत का अविच्छेद्य अंग बना ही रहना होगा तथा सामान्य स्वार्थ के विषयों का संचालन केन्द्रीय शासन द्वारा ही होगा जिसका रूप संघ का तथा लोकतन्त्रीय होना चाहिये। भीतरी मामलों में उनके उत्तरदायी शासन की व्यवस्था करनी होगी।

राजाओं की परवशता

यह स्पष्ट है कि यदि संघर्ष जनता और शासक तक ही सीमित रहे तो इन रियासतों की समस्या आसानी से हल हो सकती है। अधिकांश शासक यदि अपने इच्छानुसार चलने के लिए स्वतन्त्र कर दिये जायँ तो वे अपनी प्रजा के साथ हो जायंगे और यदि उनमें कुछ हिचकिचायंगे तो प्रजा के दबाव से उन्हें भी शीघ्र विचार-परिवर्तन करना पड़ेगा। ऐसा न करना उनकी स्थिति को खतरे में डाल देगा और फिर उनके लिए दूसरी स्थिति अस्तित्व-लोप की ही हो सकती है।

कांग्रेस तथा भिन्न भिन्न प्रजामण्डलों ने अब तक इस बात के लिये हर तरह का यत्न किया है कि शासक लोग अपनी प्रजा के साथ सहयोग और उत्तरदायी शासन की स्थापना करें। राजाओं को समझ लेना चाहिये कि उनके इस बात को स्वीकार न करने से उनकी प्रजा को स्वतन्त्रता मिलना रुक न जायगा। होगा केवल यह कि उनमें और उनकी प्रजा के बीच में बड़ी

भारी खाई खुद जायगी और उसे पाटना तथा दोनों को मिलाना बहुत कठिन हो जायगा। पिछले सौ वर्षों में संसार का नकशा अनेक बार बदल चुका है, बहुत सी बादशाहतें समाप्त हो गयीं और नये नये देश पैदा हो गये। आजकल भी हम अपनी आखों से नकशे को बदलता देख रहे हैं। यह कहने के लिए किसी भविष्य-वक्ता की आवश्यकता नहीं है कि भारत के देशी राज्यों की आज की व्यवस्था का नाश निश्चित है और यही बात अबतक उसकी रक्षा करनेवाले ब्रिटिश साम्राज्य के भी विषय में कही जायगी। शासकों के लिए बुद्धिमत्ता का मार्ग यही होगा कि वे प्रजा के साथ एक पंक्ति में आकर खड़े हो जायँ और नयी स्वतन्त्रता में प्रजा के साथ साथ वे भी उसके हिस्सेदार बनें, और इस प्रकार स्वेच्छाचारी तथा अप्रिय शासक होने के स्थान पर महान् राष्ट्र-मण्डल के, उस पर गर्व करने तथा समान अधिकार रखनेवाले, नागरिक बनें।

कुछ थोड़े से राज्यों के शासकों ने इस बात का अनुभव किया है और वे उचित दिशा की ओर अपना कदम बढ़ा रहे हैं। उनमें से एक छोटे से राज्य के शासक औंध-नरेश हैं जिन्होंने अपनी प्रजा को उदारता और सदिच्छा के साथ उत्तरदायी शासन प्रदान कर अपनी बुद्धिमत्ता और योग्यता का परिचय दिया है।

क्षयग्रस्त वर्ग

परन्तु दुर्भाग्य की बात है कि देशी नरेशों में कितने ही ऐसे हैं जो अपनी पुरानी रीति-नीति से ही चिपके बैठे हैं और उनमें

परिवर्तन का कोई भी चिन्ह प्रकट नहीं होता। वे इतिहास की इस शिक्षा की सचाई का फिर प्रमाण दे रहे हैं कि जब एक श्रेणी अपना कार्य पूरा कर चुकती है और संसार को उसकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती तो उसका क्षय प्रारम्भ हो जाता है और वह अपनी बुद्धि तथा सारा सामर्थ्य खो बैठती है। वह बदलती हुई परिस्थिति से अपना सामंजस्य नहीं कर सकती। जो वस्तु धीरे-धीरे समाप्त होती जा रही है उसे पकड़ रखने की वृथा चेष्टा में वह उस वस्तु से भी हाथ धो बैठती है जो अन्यथा उसे मिल सकती थी। ब्रिटिश शासक श्रेणी ने बहुत दिनों तक अपनी शासनपटुता का अच्छा परिचय दिया और पूरी १९ वीं शताब्दी में तथा उसके बाद भी उसने संसार पर अपना प्रभुत्व बनाये रखा। परन्तु आज हम देखते हैं कि वह साहस, शक्ति और बुद्धि से खाली हो रही है और रचनात्मक कार्य तथा विचार के अयोग्य हो गयी है। वह अपने कुछ स्वार्थों की रक्षा के लिए बदहवासी के साथ यत्न करती हुई संसार में अपनी उच्च स्थिति को चौपट कर रही है, और अपने राज्य की ऊँची अट्टालिका को गिरा रही है। यही हाल उन श्रेणियों का होता है जो अपना कार्य पूरा कर चुकी हैं और जिनकी उपयोगिता समाप्त हो चुकी है। जब ब्रिटिश शासकश्रेणी ही अपनी शान, धाक, परम्परा और शिक्षा के होते हुए भी बुरी तरह असफल हो रही है तो फिर हम अपने देशी नरेशों के बारे में कहें ही क्या? वे तो कई पीढ़ियों से नैतिक ह्रास और अनुत्तरदायित्व के बीच पलते आ रहे हैं। शासन की गुत्थियाँ सुलझाने के लिए पोलो के घोड़े का प्रबन्ध

करने, कुत्तों की किसी विशेष श्रेणी को पालने या अनेक अहिंसक जीवों को मार डालने की कुशलता से अधिक ज्ञान तथा बुद्धि की आवश्यकता होती है।

पर राज्यों के शासक इसके लिए तैयार हो जायँ तो भी कुछ अधिक नहीं कर सकते। कारण यह है कि उनके भाग्य का असली निर्णायक तो है ब्रिटिश सरकार का एजेण्ट और उनमें इतना साहस नहीं कि उसको असन्तुष्ट कर सकें। राजकोट के विषय में हम देख चुके हैं कि किस प्रकार एक शासक को जो प्रजा के साथ समझौता करने को प्रस्तुत था, राज्यच्युत करने की धमकी दी गयी और किस प्रकार ब्रिटिश एजेण्ट के दबाव में पड़कर वह वचन भंग करने को बाध्य हुआ।

ब्रिटिश अधिकारियों को चेतावनी

इस प्रकार हम देखते हैं कि राज्यों में जो संघर्ष चल रहा है वह अनुसंगिक रूप से राजाओं के साथ है। वास्तव में तो वह ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ है। यह बिलकुल स्पष्ट तथा निश्चित है और यही कारण है कि राज्यों में प्रजा के विरुद्ध ब्रिटिश शक्ति का हस्तक्षेप एक विशेष अर्थ रखता है। हम देख रहे हैं कि यह हस्तक्षेप दिन-दिन बढ़ता ही जा रहा है सो भी केवल भारत सरकार के राजनीतिक विभाग और उसके एजेण्टों तथा रेजिडेण्टों द्वारा ही नहीं, उसकी सशस्त्र शक्ति द्वारा भी, जिसका एक उदाहरण उड़ीसा है। यह हस्तक्षेप जो कि जन-आन्दोलन को कुचलने के लिए किया जा रहा है हमारे लिए असह्यनीय है। यदि भारत

सरकार जनता को दबाने में हस्तक्षेप करेगी तो राष्ट्रीय महासभा भी अपनी पूरी शक्ति के साथ इस मामले में अवश्य ही उसमें दखल देगी। हमारे उपाय उनसे भिन्न हैं। वे शान्तिमय हैं पर पिछले दिनों हम देख चुके हैं कि वे वास्तव में प्रभावशाली हैं।

गांधीजी ने इस संघर्ष के व्यापक परिणामों के विषय में ब्रिटिश सरकार और उसके हिन्दुस्तानस्थित एजेण्टों को बार-बार चेतावनी दे दी है। यह प्रत्यक्षतः असम्भव है कि यह संघर्ष किसी खास राज्य में ही रहे और साथ ही कांग्रेस के लिए यह असम्भव है कि ब्रिटिश अधिकारियों के साथ सहयोग रखते हुए प्रान्तीय शासन चलावे। अगर बड़ा संघर्ष होगा तो उसका असर हिन्दुस्तान के कोने-कोने में दूर से दूर तक फैलेगा और तब प्रश्न किसी खास एक राज्य के अन्दर का ही नहीं रह जायगा बल्कि ब्रिटिश शक्ति को बिलकुल हटा देने का होगा।

तात्कालिक प्रश्न

आज दिन संघर्ष की सूरत क्या है, इसको साफ साफ समझ लेना चाहिये। नाममात्र का अन्तर होने पर भी सभी राज्यों में पूरे उत्तरदायी शासन की माँग है। फिर भी यह संघर्ष इस समय इस माँग पर जोर नहीं देता बल्कि उस माँग के लिए लोगों के संघटित होने के अधिकार की स्थापना चाहता है। जब इस अधिकार से इनकार किया जा रहा है और नागरिक स्वत्व कुचले जा रहे हैं तब लोगों के लिए इसके सिवा और कोई चारा नहीं है कि उस उपाय से आन्दोलन चलावें जिसको वैधानिक

कहते हैं। उनके सामने दो ही रास्ते हैं जिनमें से एक को चुन लेना है—या तो हार मान लें और सब राजनीतिक कार्य, यहाँ तक कि सार्वजनिक कार्य भी छोड़ दें और अपने भाव का हनन तथा लगातार अत्याचार बरदाश्त करें जो कि उनको कुचलने के लिये हैं, या फिर प्रत्यक्ष विरोध करें। यह प्रत्यक्ष विरोध हमारे विधान के अनुसार पूर्ण शान्तिमय सत्याग्रह और हिंसा तथा बुराई के सामने हार मानने से इनकार करना है, परिणाम चाहे जो हो। इस प्रकार आज दिन तो तात्कालिक प्रश्न अधिकांश राज्यों में नागरिक स्वत्व या स्वतन्त्रता का है, यद्यपि सब जगह मूल उद्देश्य उत्तरदायी शासन है। जयपुर में यह प्रश्न एक प्रकार से और भी सीमाबद्ध है। वहाँ की रियासती सरकार प्रजा मण्डल को दुर्भिक्ष में सहायता का प्रबन्ध करने से रोक रही है।

ब्रिटिश सरकार के सदस्य अपनी अन्तर्राष्ट्रीय नीति का औचित्य समझाते हुए हमसे अक्सर अपने शान्ति-प्रेम की बातें कहते हैं और बताते हैं कि उनको अन्तर्राष्ट्रीय या राष्ट्रीय समस्याओं को हल करने में बलप्रयोग या हिंसा से काम लेने में घृणा है। शान्ति और सुलह के नाम पर उन्होंने निकृष्ट श्रेणी की अन्तर्राष्ट्रीय चालबाजी और दस्युता को सहायता और प्रोत्साहन दिया है और यूरोप के लोकतन्त्र तथा स्वतन्त्रता को सांघातिक आघात पहुँचाया है। उन्होंने अपनी नीति द्वारा यूरोप में नग्न हिंसा राज्य की स्थापना कर दी और इस समय सबसे बड़े दुःखकांड के घटित होने में सहायक हुए हैं। वह है प्रजातन्त्र स्पेन की हार—उस प्रजातंत्र की जिसने इतने दिनों तक बड़ी

बड़ी कठिनाइयों का सामना करते हुए इतनी वीरता से युद्ध किया। फिर भी ब्रिटेन के ये राजनीतिज्ञ शान्तिपूर्ण समझौतों की दोहाई देते हैं, और बलप्रयोग तथा हिंसा की बुराई बताते हैं। वे लोग यूरोप में इन पवित्र भावों का प्रचार इसलिए करते हैं कि प्रतिगामी और हिंसावादी शक्तियों को खुलकर काम करने का मैदान और स्वतन्त्रता को कुचलने का काफी मौका मिले।

हम लोग हिन्दुस्तान में और खास करके रियासतों में क्या देखते हैं? हम शान्तिपूर्ण प्रचार, शान्तिपूर्ण संघटन और शान्तिपूर्ण निबटारे की जितनी चेष्टाएँ करते हैं उन सब का विरोध ब्रिटिश राज्य की सशक्त शक्ति और राजनीतिक प्रभाव द्वारा पुष्टपोषित रियासती अधिकारी पाशविक बल द्वारा करते हैं। इस प्रकार जहाँ लोकतन्त्र तथा स्वतन्त्रता की ओर ले जाने वाला परिवर्तन चाहा जाता है वहाँ तो वह बिलकुल जायज और शान्तिमय होने पर भी निर्दयता पूर्वक और हिंसा द्वारा कुचला जाता है। किन्तु जहाँ फासिस्टवाद और साम्राज्यवाद अपने मतलब से और लोकतन्त्र तथा स्वतन्त्रता को कुचलने के लिए परिवर्तन चाहता है वहाँ हिंसा और बल-प्रयोग को काम करने दिया जाता है और शान्ति की नीति सिर्फ उन लोगों को रोकने और बाधा देने के लिए है जो अपने स्वातंत्र्य की रक्षा करना चाहते हैं।

क्या इस समय भी कोई ऐसा समझता है कि अत्याचार, स्वेच्छाचारिता और दूषित शासन का रियासतों में अधिक समय तक बोलबाला बना रहेगा? क्या इस बात से कोई इनकार कर

सकता है कि ये सब बातें अवश्य नष्ट हो जायंगी और स्वतन्त्र संस्थाएँ उनका स्थान ग्रहण करेंगी ? ऐसा है तो फिर किस प्रकार बिना लड़ाई झगड़े के यह परिवर्तन हो सकता है जब तक कि लोगों को शान्तिमय संघटन तथा समझदार और स्वावलम्बी लोकमत के विकास की पूरी सुविधा न दी जाय। किसी भी प्रकार की प्रगति के लिए सब से पहली आवश्यक बात यह है कि लोगों को उनके पूरे पूरे नागरिक अधिकार मिल जायँ। भारत-वर्ष से यह कहना उसका अपमान करना है कि रियासतों में आर्डिनेन्सों का राज्य हो, लोगों की संघटन-सम्मेलन की स्वाधी-नता कुचली जाय, प्रजा के साथ दस्युता का व्यवहार किया जाय और वह चुपचाप यह सब देखता रहे। क्या रियासतों को सदा बड़े बड़े जेलखाने ही बनाये रखना है जहाँ मानव भाव का गला घोंट देना ही कर्तव्य समझा जाता है, जहाँ प्रजा की कमाई चूस चूस कर दरबारों की शान-शौकत बढ़ाने, आडम्बर तथा भोग-विलास के काम में लायी जाती है और इसके बदले में असंख्य प्रजा भूखों मरती और अशिक्षित तथा मूर्ख बनी रहती है ? क्या ब्रिटिश साम्राज्यवाद की छत्रछाया में अब भी भारतवर्ष में मध्यकालीन अवस्था को बनाये रखना वांछनीय है ?

निरंकुशता के नमूने

राजपूताने की एक बड़ी रियासत में टाइपराइटरों से काम लेना तक बरजा जाता है और इनके सम्बन्ध में एक आर्डिनेन्स है जिसके अनुसार इनकी रजिस्ट्री करानी पड़ती है। काश्मीर में

एक भयावना आर्डिनेन्स, जो कुछ पूर्व बर्मा के विद्रोह के सम्बन्ध में बने आर्डिनेन्स जैसा है, राज्य का स्थायी विधान बन गया है। प्रमुख राज्य हैदराबाद में बहुत दिनों से नागरिक स्वातन्त्र्य का लोप हो गया है और हाल में शान्तिमय सत्याग्रहियों पर पाशविक अत्याचार होने की बात प्रकट हुई है। निजी तौर पर वंदेमातरम् गीत गाने के अपराध में उस्मानिया विश्वविद्यालय के सैकड़ों छात्रों का विश्वविद्यालय से निकाला जाना हैदराबाद के शासक वर्ग की प्रतिगामी मनोवृत्ति का विस्मयकारी उदाहरण है। ट्रावंकोर में गत ग्रीष्म में हुए अत्याचारों की याद हमें अभी भी बनी हुई है।

पर मैं इन राज्यों और इनके कुकृत्यों की तालिका नहीं देना चाहता और न मैं यही चाहता हूँ कि अलग अलग राज्यों की समस्याओं पर विचार करूं। यदि मैं ऐसा करने का प्रयत्न करूं तो मेरा भाषण कभी समाप्त ही न होगा। यहाँ से जहाँ हम लोग एकत्र हुए हैं, पंजाब की रियासतें नजदीक ही हैं और उनमें से बहुत सी बहुत दिनों से बदनाम हैं। उनके कुशासन की पूरी कहानी यदि हम सुनने लगें तो हमारा सारा समय उसीमें नष्ट हो जायगा। पर समय और स्थान सम्बन्धी कठिनाइयों का विचार न करते हुए भी, मैं यह पसन्द करूँगा कि आप अधिक व्यापक समस्या की ओर, जो सब राज्यों से सम्बन्ध रखती है, ध्यान दें और अलग अलग समस्याओं के गोरख-धंधे में न फँसें। हमें लकड़ी की ओर ध्यान देना चाहिये, वृक्षों के बीच भटक न जाना चाहिये। हमें अनुभव करना चाहिये

और दूसरों को भी यह बात समझानी चाहिये कि इस महान समस्या को खण्ड खण्ड करके हल करना अब सम्भव नहीं रहा कारण भारत की स्वाधीनता एक और अविभाज्य है।

पर कुछ राज्य आज संग्राम में आगे आ गये हैं और उनकी चर्चा करना आवश्यक है। कुछ की स्थिति विचित्र है और उस पर विचार करने की आवश्यकता है।

राजकोट और जयपुर

राजकोट और जयपुर ने आज प्रामुख्य प्राप्त किया है और दोनों में सर्वभारतीय महत्त्व के प्रश्न उपस्थित हुए हैं। हमारे बहुत से साथी आज वहाँ की लड़ाई में फँसे हुए हैं और उस अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य के कारण इस सम्मेलन में हमारे साथ सम्मिलित नहीं हो सके हैं। राजकोट से हमें कई शिक्षाएँ लेनी हैं। वहाँ कुछ महीनों के संग्राम के बाद जान पड़ा कि प्रजा की विजय हो गयी और हमने खुशियाँ मनायीं। हमने देखा कि हमारी युद्धप्रणाली और प्रजा के शान्तिमय तथा वीरतापूर्ण त्याग ने हमें किस प्रकार प्रभावशाली रूप से सफलता दिलायी। पर हम खुशी बहुत जल्दी मनाने लगे और शासक ने अपना वचन तोड़ दिया और पुनः संग्राम आरम्भ करना पड़ा। सारा भारत जानता है कि ऐसा कैसे हुआ और किस प्रकार ब्रिटिश अधिकारी दबाव डालकर तथा धमकियाँ देकर समझौते में बाधक हुए। इससे हमें यह शिक्षा मिलती है कि हमें अस्थायी सफलता से कभी भुलावे में न आना चाहिये, हम तब तक अपनी

विजय पर विश्वास नहीं कर सकते जब तक अभीष्ट सिद्धि न हो जाय। आश्वासन और वचन पूरे न किये जायंगे, कारण वास्तविक अधिकार उनके हाथ में नहीं है जो वचन देते हैं। वह ब्रिटिश साम्राज्यवाद के हाथ में है। जयपुर में एक अंग्रेज अधिकारी है, यद्यपि वह महाराज द्वारा प्रधान मन्त्री भी नियुक्त किया गया है, जो राज्य का प्रकृत शासक है और भारत सरकार के राजनीतिक विभाग की ओर से और कदाचित उसके आदेशों के अनुसार, राज्य का शासन करता है। कोई भी ऐसी कल्पना नहीं करता कि महत्वपूर्ण विषयों में युवा महाराज की भी कोई बात सुनी जाती होगी। कोई भी यह नहीं मान सकता कि भारत सरकार के सद्भाव और समर्थन बिना वह अंग्रेज प्रधान मन्त्री एक दिन भी उस हैसियत से काम कर सकता है। उसकी नीति राजनीतिक विभाग को थोड़ी भी नापसन्द होगी तो वह तुरत बदल दी जायगी या वह उस पद से हटा दिया जायगा।

उड़ीसा-काण्ड

उड़ीसा में ब्रिटिश एजेण्ट मेजर बजलगेट की हत्या का बड़ा ही दुःखद कांड हो गया। यह काण्ड मूर्खता से किया गया, जिसका परिणाम बड़ा भयानक हुआ। मूर्खतापूर्ण कार्यों का परिणाम सदैव भयंकर हुआ करता है। उड़ीसा की जनता पिछड़ी हुई है और उसे हमारे मूल सिद्धान्त के न समझने के कारण कुछ दुःख भुगतना पड़ेगा। यह दुर्घटना हम लोगों के लिए इसकी चेतावनी है कि हम अपनी लड़ाई इस तरह चलावें कि जनता

उनके तत्व को समझे और अहिंसा के सिद्धान्त को पूर्णतया पालन करे। इस सिद्धान्त को भूलना अपनी हानि करना है।

रनपुर के इस काण्ड की प्रतिक्रिया का प्रभाव ब्रिटिश शक्ति-पर भी पड़ा। भारत के सुदूर स्थानों से यहाँ सशस्त्र सैनिक लाये गये और उड़ीसा में प्रभुशक्ति की ताक़त की घोषणा की गयी। इस सैनिक प्रदर्शन का अर्थ क्या था? न तो वहाँ कोई बलवान था और हिंसात्मक चढ़ाई। सैनिकों के पहुँचते ही बुभुक्षित किसान भागे और रनपुर निर्जन तथा शून्य हो गया। कहते हैं कि पिछड़ी हुई जंगली जाति गोंड़ों से उपद्रव की आशङ्का थी। तो क्या हमारे इन पिछड़े हुए तीर-धनुषधारी लोगों का सामना करने के लिए इतनी बड़ी ब्रिटिश सेना की आवश्यकता थी? गोंडों ने तो कुछ नहीं किया और वे तब तक कुछ न करेंगे जब तक उनको असहनीय कष्ट कुछ करने के लिये बाध्य न करें। उनके साथ बड़े सद्व्यवहार की आवश्यकता है और उनकी माँगों को पूरा करना चाहिये। लेकिन साम्राज्यवाद का तो ढंग ही निराला है।

गोंडों के कोई ऐसे काण्ड करने की सम्भावना नहीं थी कि उड़ीसा में इतनी बड़ी फौज बुलायी गयी। राज्य की प्रजा को भयभीत करने तथा प्रजा की माँग के विरोध में शासकों की शक्ति दृढ़ करने के लिए ही सेना आयी। स्वतन्त्रता के आन्दोलन को दबाने के लिए उसका प्रयोग किया गया। स्वेच्छाचारी और गन्दे शासन के समर्थन में प्रभु-शक्ति की ओर से हस्तक्षेप का यह

ज्वलन्त उदाहरण है। यह बात सब को मालूम है कि सारे भारत में उड़ीसा के कुछ राज्य सबसे निकृष्ट और गिरे हुए हैं।

रनपुर को छोड़िये। मेजर बजलगेट की हत्या के पहले भी तो धनकनाल और तालचर के शासकों ने अपनी प्रजा पर इतना अत्याचार किया कि लोग राज्य छोड़ कर भाग गये। इन राज्यों की कोई बीस तीस हजार प्रजा राज्य की सीमा के बाहर चली गयी। शासकों की ओर से शरणार्थियों के नेताओं की तलबी हुई जिससे उनको शासन-विरोध का फल मिल जाय। ब्रिटिश अधिकारियों ने भी इस माँग का समर्थन किया। बिना प्रतिष्ठा खोये हुए कोई कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल इस माँग को स्वीकार न करेगा। ऐसा करना राज्य के अपने भाइयों को धोखा देना होगा और अपने सिद्धान्त से च्युत होना होगा।

हम नहीं चाहते कि जो अपराधी है उसे आश्रय दिया जाय। हम पूरी जाँच कराने के लिए तैयार हैं। लेकिन जिस जाँच की आवश्यकता है; वह है धनकनाल और तालचर राज्यों की सरकारों के कुशासन और अत्याचार की। इनके अधिकारियों का विचार होना चाहिये, क्योंकि इनकी ही बदौलत प्रजा को दुर्दशा-ग्रस्त होना और कष्ट उठाना पड़ रहा है।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद के शिष्य

बड़े बड़े राज्यों के शासक ब्रिटिश साम्राज्यवाद के पक्के शिष्य हैं। और बातों के साथ साथ सार्वजनिक आन्दोलनों को दबाने में साम्प्रदायिक मतभेद के उपयोग में वे सिद्धहस्त हो

गये हैं। ट्रावंकोर की जनता के एक प्रौढ़ आंदोलन को यह कह कर बदनाम करने की चेष्टा की गयी है कि यह साम्प्रदायिक आंदोलन है और विशेषतया ईसाइयों से सम्बन्ध रखता है। काश्मीर में भी सार्वजनिक आंदोलन इसलिए साम्प्रदायिक बताया गया कि इसमें अधिकांश मुसलमान सम्मिलित थे। हैदराबाद में भी हिन्दुओं के बहुसंख्यक होने के कारण आन्दोलन साम्प्रदायिक बता दिया गया। इन आन्दोलनों द्वारा जो मांगें पेश की गयी हैं वे सम्भव हैं कि बिलकुल राष्ट्रीय हों और सचमुच हैं भी, क्योंकि इनमें जरा भी साम्प्रदायिकता की गन्ध नहीं। लेकिन आन्दोलन को बदनाम करने और दबाने के लिए एक बहाने की जरूरत थी और साम्प्रदायिकता का बहाना इसके लिये उपयुक्त जँचा।

काश्मीर और हैदराबाद

भारत में हैदराबाद और काश्मीर दो बड़ी और पुरानी रियासतें हैं। हमारी आशा थी कि वे स्वतन्त्र संस्थाएँ और उत्तरदायी शासन देकर अन्यान्य राज्यों के लिए अनुकरणीय बनेंगी। किन्तु दुर्भाग्यवश दोनों ही समाजनीति और राजनीति में पिछड़ी हुई हैं। हैदराबाद में प्रायः हिन्दू अधिक हैं और मुसलिम शासक हैं और काश्मीर में मुसलमान अधिक और शासक हिन्दू हैं। फलतः दोनों राज्यों में एक सी ही समस्या है और दोनों में ही जनता में भीषण दरिद्रता, निरक्षरता, और उद्योग-धन्धे की कमी है। प्रजा की इस दरिद्रता और गिरी अवस्था की तुलना में ये दोनों शासक भारत में सब से धनी

समझे जाते हैं। राजनीतिक दृष्टिकोण से काश्मीर जरासा आगे है क्योंकि यहाँ एक व्यवस्थापक सभा है। पर उसको नाम मात्र के ही अधिकार हैं और दमन के कानून बड़े ही भीषण और कठोर हैं। सम्भवतः भारत में हैदराबाद की जनता को सब से कम नागरिक अधिकार प्राप्त हैं। हाल में वहाँ कुछ धार्मिक कृत्यों तक की मनाही हो गयी है और यह वहाँ की साधारण अवस्था है।

यह बड़े ही दुःख का विषय है कि उक्त दो बड़ी रियासतों में ऐसी दुरवस्था है। इन दोनों राज्यों में यह बिलकुल स्वाभाविक है कि आंदोलन उठे और जनता में फैले। इसका श्रीगणेश पहले काश्मीर में हुआ और पीछे हैदराबाद में। यदि परिस्थिति के अनुसार इन आंदोलनों के आरम्भ में सांप्रदायिकता का जरा सा रंग रहा हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। उस अवस्था में भी सार्वजनिक आंदोलन बने रहे और जनता की माँग उपस्थित करते रहे। उनका ध्येय राष्ट्रीय था जिससे सारी जनता की भलाई और उन्नति हो सकती है। इनको साम्प्रदायिक आन्दोलन कह कर निन्दा करना सम्भवतः सच्ची बातों से जानबूझ कर आँख मूँदना है। और उक्त राज्यों के अल्प-संख्यकों ने इस विरोध में सम्मिलित होकर अपनी ही क्षति की है। इसका अर्थ तो यह हुआ कि अल्प-संख्यक स्वतन्त्रता तथा उन्नति नहीं चाहते और अपनी उन खास सुविधाओं के लिए लटके हुए हैं जिनके वर्तमान शासन से मिलने की आशा की जाती है।

सच बात तो यह है कि दोनों राज्यों के आन्दोलन-राष्ट्रीय

ढंग से आगे बढ़े। मुझे यह कहते प्रसन्नता होती है कि काश्मीर में कुछ बुद्धिमान और दूरदर्शी हिन्दुओं और सिक्खों ने सार्वजनिक आंदोलन में भाग लेकर उसे महत्वपूर्ण बनाया और उस राष्ट्रीय माँग का समर्थन किया जो उत्तरदायी शासन माँग रही थी। मुझे विश्वास है कि हैदराबाद राज्य के कितने ही दूरदर्शी मुसलमान भी ऐसा ही करेंगे। दोनों राज्यों के आन्दोलनों के नेताओं ने साम्प्रदायिकता को मिटा देने की आवश्यकता समझी है और इसके लिये चेष्टा भी की है। उन्हें क्षण भर के लिए भी दुर्बलता न दिखानी चाहिये, क्योंकि इसका परिणाम उनके अभीष्ट कार्य के लिए हानिकारक सिद्ध होगा। अल्प-संख्यकों को यह भी अनुभव करना चाहिये कि रियासतों में उत्तरदायी शासन की व्यवस्था होना अब अनिवार्य है। उक्त व्यवस्था के फल-स्वरूप स्वतन्त्रता की सुन्दर देन सब को समान रूप से मिलेगी। जो लोग इस जन-संघर्ष का विरोध करेंगे या उसकी ओर तटस्थ दर्शक की निरपेक्ष दृष्टि रखेंगे, उन्हें भविष्य अयोग्य और निकम्मा घोषित करेगा।

यद्यपि ऊपर से देखने में काश्मीर और हैदराबाद की स्थिति पर विभिन्न रंग चढ़ा हुआ दिखाई देता है तथापि दोनों की समस्याएँ मूलतः एक ही सी हैं, अतः दोनों पर एक साथ विचार करने में तथा जहाँ तक अल्प-संख्यकों के अधिकार का प्रश्न है दोनों के लिए एक ही उपाय की व्यवस्था करने में कोई कठिनाई न होनी चाहिये। उक्त उपाय कांग्रेस द्वारा बताये गये स्थूल सिद्धान्तों से मिलता जुलता तथा उत्तरदायी शासन के अनुकूल होना चाहिये।

हैदराबाद का आन्दोलन

कुछ दिन पहले हैदराबाद में एक विचित्र स्थिति उत्पन्न हो गयी थी जिससे जनता के मन में कुछ उलझन सी पैदा हो गयी। रियासत की कांग्रेस कमेटी गैर-कानूनी संस्था घोषित की गयी यद्यपि उसने अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए सदस्य बनाने के पूर्णतया शान्तिमय और वैध उपाय का ही अवलम्बन किया था। चूँकि रियासत मध्यकालीन परम्परा में पोषित हुई है अतः इस कार्य पर भी आपत्ति की गयी और उसकी मनाही कर दी गयी। इस पर रियासती कांग्रेस ने इस आज्ञा का पालन करने से इनकार कर दिया, जो ठीक ही था, और अपना आन्दोलन आगे बढ़ाने का प्रयत्न करती रही। उक्त प्रयत्न के अंतर्गत शान्तिमय सत्याग्रह किया गया और उसके फलस्वरूप सैकड़ों आदमियों ने कष्ट उठाया। इसी के कुछ आगे पीछे एक धार्मिक और एक साम्प्रदायिक संस्था ने भी सत्याग्रह आरम्भ किया। धार्मिक आन्दोलन का कारण रियासत के अधिकारियों की वह आज्ञा थी जिसके द्वारा उसने कुछ धार्मिक कृत्यों तथा उपासना-विधियों पर, जो सारे भारत में प्रचलित हैं, रोक लगा दी थी। वास्तव में यह बड़े ही आश्चर्य की बात है कि अधिकारियों ने इस मार्ग का अनुसरण किया जो धार्मिक स्वतन्त्रता की जड़ पर आघात करता है और इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के माने हुए सिद्धान्तों के सर्वथा प्रतिकूल है। ऐसे आचरण का स्वाभाविक परिणाम विरोध की उत्पत्ति ही था। साथ ही यह भी दुर्भाग्य की बात हुई जो उस समय इस

आधार पर सत्याग्रह चलाया गया। ऐसा करने से मामला झमेले में पड़ गया और रियासत के अधिकारियों को राजनीतिक स्वतन्त्रता की माँग को पीछे टाल देने का बहाना मिल गया।

पूरी परिस्थिति पर सावधानी से विचार कर लेने के पश्चात रियासत की कांग्रेस को सत्याग्रह स्थगित कर देने की सलाह दी गयी जिसमें राजनीतिक प्रश्न साम्प्रदायिक और धार्मिक प्रश्नों के साथ न मिल जाय। इस पर हैदराबाद कांग्रेस ने सत्याग्रह स्थगित कर दिया। फिर भी हैदराबाद के अधिकारियों में न तो इतनी सुबुद्धि हुई और न वे इतनी उदारता ही दिखला सके कि सत्याग्रही बंदियों को मुक्त कर देते और कांग्रेस पर लगायी हुई विचित्र रुकावटें उठा लेते।

दुर्भाग्यवश दूसरी संस्थाओं द्वारा चलाये गये धार्मिक और साम्प्रदायिक सत्याग्रह जारी रहे और प्रश्न का साम्प्रदायिक रूप अत्यन्त तीव्र हो गया जिसके फलस्वरूप भारत के विभिन्न भागों में अनेक दंगे हुए। जो लोग इसके लिए जिम्मेदार हैं उन्होंने अपने काम के परिणाम की तनिक परवाह न की और न तो इसको समझा कि जनता का आन्दोलन भीतरी प्रेरणा से होता है, ऊपर से लादा नहीं जा सकता।

गत वर्ष काश्मीर में भी सविनय अवज्ञा का आन्दोलन स्थगित कर दिया गया और रियासत के अधिकारियों को एक मौका और दिया गया कि वे कदम पीछे लौटा लें और जो कुछ गलतियाँ कर चुके हैं उनका मार्जन कर दें। लेकिन उनमें भी सुबुद्धि और उदारता की कमी थी। अतः यद्यपि आन्दोलन

स्थगित कर दिया गया तथापि सविनय अवज्ञा आन्दोलन के सैकड़ों बन्दी अपने नेता शेख मुहम्मद अब्दुल्ला के साथ जेल में सड़ते रहे और वह आर्डिनेन्स, जो 'नोटिफिकेशन १९—एल०' के नाम से परिचित है, तथा १९१४ का राजविद्रोही सभा कानून अबतक जारी हैं।

असह्य स्थिति

यह बिलकुल स्पष्ट है कि काश्मीर और हैदराबाद दोनों की वर्तमान अवस्था सहन नहीं की जा सकती और यदि इन राज्यों के अधिकारियों का यही रवैया रहा तो सविनय अवज्ञा आरंभ कर देना अनिवार्य हो जायगा।

हममें से कोई भी संघर्ष नहीं चाहता परन्तु इस विघटनशील युग में पग-पग पर संघर्ष आकर हमें घेर लेता है और संसार में अव्यवस्था और क्रूर हिंसा का राज्य फैलता जा रहा है। हम में से कोई भी नहीं चाहता की भारत में यह अव्यवस्था फैले क्योंकि उससे स्वतंत्रता की प्राप्ति नहीं हो सकती। तो भी जहाँ एक ओर हम देखते हैं कि हमारा बल बढ़ रहा है वहाँ दूसरी ओर साम्प्रदायिकता और प्रांतीयता, विघटन और विच्छेद, अनुत्तरदायित्व और संकीर्णता की शक्तियाँ भी बढ़ रही हैं। हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि यद्यपि ब्रिटिश साम्राज्यवाद अपने केन्द्र पर निर्बल होता जा रहा है तो भी वह हमारा विकट शत्रु है और हमें भरपूर युद्ध करने के उपरान्त ही स्वतंत्रता मिल सकेगी।

पं० जवाहरलाल नेहरू

आशा की झलक

न तो हम और न संसार में और ही कोई भविष्य का सुख-स्वप्न देख सकता है, क्योंकि वर्तमान दुःख और आफतों से भरा हुआ है तथा संसार का आसन्न भविष्य अन्धकार के काले परदे में लिपटा हुआ है। तो भी भारत में आशा की किरणें चमक रही हैं, यद्यपि काले बादल हमारे चारों ओर मंडरा रहे हैं। इन किरणों में सब से प्रकाशमय किरणें आ रही हैं हाल में ही जागी हुई रियासती प्रजा की ओर से। हम जो उसके आन्दोलन के बोझ उठाने में अपना कन्धा लगाने का साहस कर रहे हैं अपने ऊपर बहुत बड़ी जिम्मेदारी ले रहे हैं और उसे ईमानदारी के साथ निभाने में हमें अपना सारा साहस तथा ज्ञान लगा देना पड़ेगा। बड़ी-बड़ी बातें करने से हमारा कोई कार्य सिद्ध न होगा। यह तो निर्बलता की एक निशानी है और कार्य में बाधा डालने वाली वस्तु है। आज सब से बड़ी आवश्यकता है काम करने की—बुद्धियुक्त और प्रभावकारी काम करने की—जिससे हम शीघ्र अपने लक्ष्य तक पहुँच सकें, बिकाऊ शक्तियों पर विजय प्राप्त कर सकें और जिस संयुक्त भारत का आज हम स्वप्न देख रहे हैं उसकी रचना कर सकें।

सम्भव है कि समय समय पर छोटे-छोटे लाभ और सुविधाएँ हमें ललचायें पर वे हमारे उद्देश्य की सिद्धि में बाधक हों तो हमें उनको ठुकरा देना चाहिए। संभव है कि क्षणिक उत्तेजना के वशीभूत होकर हम अपने सिद्धान्त भूल जायँ, पर ऐसा करना

हमारे लिए बड़ा...घातक सिद्ध होगा। हमारा लक्ष्य बहुत ऊँचा है। अतः हमारे साधन भी ऊँचे होने चाहिए। जिस उच्चपद की हम आकांक्षा कर रहे हैं उसकी योग्यता भी तो हमें अपने में उत्पन्न करनी चाहिये। अयोग्य रह कर हम कभी ऊँचे लक्ष्य को पाने में समर्थ नहीं हो सकते।

रियासती प्रजा की स्वतन्त्रता बहुत बड़ी वस्तु है, तो भी वह समूचे भारत की स्वतन्त्रता का एक अंग ही है और जब तक हम सारे देश की स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं कर लेते तब तक हमें लड़ते ही रहना है। यदि संघ शासन हम पर लाद दिया तो हम उससे लड़ेंगे और उसे धो बहावेंगे। जहाँ कहीं भी हम ब्रिटिश शक्ति को राज्यों में प्रजा के विरुद्ध हस्तक्षेप करते देखेंगे हम उसका सामना करेंगे। समय आ रहा है जब हम इस समस्या को विधान सम्मेलन के द्वारा सदा के लिए हल कर देंगे। यह सम्मेलन सारे भारत की जनता का प्रतिनिधि होगा और स्वाधीन भारतीय लोकतंत्र का विधान बनावेगा।

प्रजा-परिषद् के कर्तव्य

पिछले दिनों देशी राज्य प्रजा-परिषद्‌ ने अच्छा कार्य किया है पर वह उस कार्य का बहुत छोटा भाग है जो वास्तव में वह कर सकता था। अब उसे अपनी सारी शक्ति सारे कार्यों को सुसंघटित करने की ओर लगा देनी चाहिये, जिसमें वह रियासतों के सम्बन्ध के सभी कार्यों की व्यवस्था कर सके और इस आंदोलन में भाग लेने वाले सभी लोगों के लिए सहायता

तथा स्फूर्ति का साधन बन सके। इसे रियासतों में प्रजामण्डल या प्रजा-संघ बनाने में सहायता देनी चाहिये। इसे इस बात की पूरी सावधानी रखनी चाहिये कि कोई भी साम्प्रदायिक भावना इसमें न आने पावे। इसे स्वयं भी इस बात का स्मरण रखना चाहिये तथा दूसरों को भी इसका स्मरण दिलाते रहना चाहिये कि अहिंसा इस आंदोलन का मुख्य सिद्धान्त है।

यह हमारा बड़ा ही सौभाग्य है कि राष्ट्रीय महासभा हमारे साथ है और उसके नेता हमारे समर्थक हैं। सब से बड़ी प्रसन्नता की बात तो यह है कि हमें रास्ता दिखाने और स्फूर्ति देने के लिए महात्मा गांधी हमारे साथ हैं।

सत्याग्रह आन्दोलन का संकेत

अहिंसा और ब्रह्मचर्य का महत्व*

[*महात्मा गांधी*]

(१)

एक कांग्रेस-नेता ने बातचीत के सिलसिले में मुझसे कहा, "यह क्या बात है कि कांग्रेस अब नैतिकता की दृष्टि से वैसी नहीं रही जैसी कि वह १९२० से १९२५ तक थी? तब से तो इसकी बहुत नैतिक अवनति हो गयी है। अब तो इसके नब्बे फी सदी सदस्य कांग्रेस के अनुशासन का पालन नहीं करते। क्या आप इस हालत को सुधारने के लिये कुछ नहीं कर सकते?"

यह प्रश्न उपयुक्त और सामायिक है। मैं यह कह कर अपनी जिम्मेदारी से हट नहीं सकता कि अब मैं कांग्रेस में नहीं हूँ। मैं तो और अच्छी तरह इसकी सेवा करने के लिये ही उससे बाहर हुआ हूँ। कांग्रेस की नीति पर अब भी मैं अपना प्रभाव डाल रहा हूँ, यह मैं जानता हूँ। और १९२० में कांग्रेस का जो विधान बना था, उसे बनाने वाले की हैसियत से उस गिरावट के लिये मुझे अपने को जिम्मेदार मानना ही चाहिये जिससे कि बचा जा सकता है।

---

* महात्मा गांधी द्वारा 'हरिजन' में "अहिंसा और ब्रह्मचर्य" शीर्षक लिखा हुआ एक लेख।

क्रान्तियुग की चिनगारियाँ
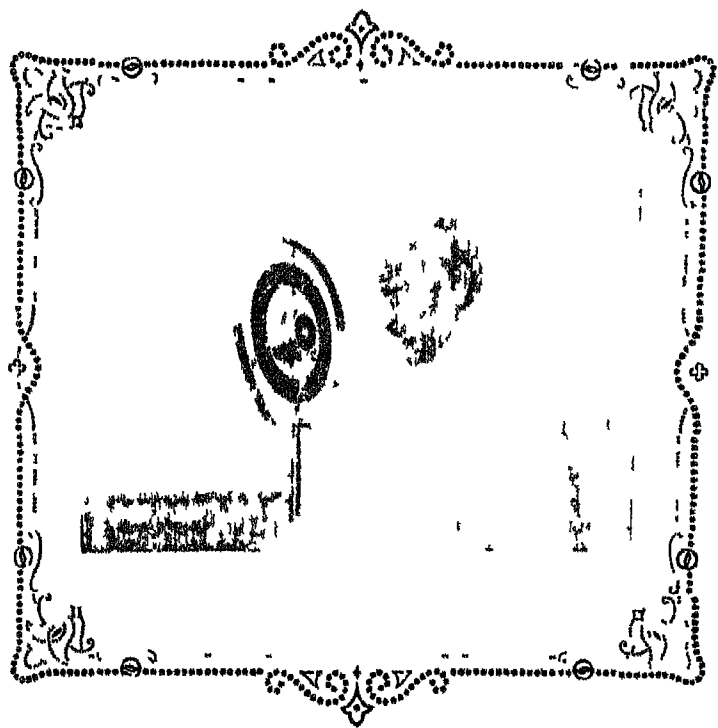
बीसवी सदी के सूत्रधार महात्मा गांधी

कांग्रेस ने आरम्भिक कठिनाइयों के बीच सन् १९२० में काम शुरू किया था। सत्य और अहिंसा पर बतौर ध्येय के बहुत कम लोग विश्वास करते थे। अधिकांश सदस्यों ने इन्हें नीति के तौर पर ही स्वीकार किया। वह अनिवार्य था। मैंने आशा की थी कि नयी नीति से कांग्रेस को काम करते हुए देख कर उनमें से अनेक इन्हें अपने ध्येय के रूप में स्वीकार कर लेंगे। लेकिन ऐसा कुछ ही लोगों ने किया, बहुतों ने नहीं। शुरुआत में तो सब से बड़े नेताओं में भारी परिवर्तन देखने में आया। स्वर्गीय पण्डित मोती-लाल नेहरू और देशबन्धु दास के जो पत्र 'यंग इण्डिया' में उद्धृत किये गये थे, उन्हें पाठक भूले नहीं होंगे। संयम, सादगी और अपने आपको कुर्बान कर देने के जीवन में उन्हें एक नये आनन्द और एक नयी आशा का अनुभव हुआ था। अलीबन्धु तो करीब करीब फकीर ही बन गये थे। जगह-जगह दौरा करते हुए इन भाइयों में होनेवाली तब्दीली को मैं आनन्द के साथ देखता था और जो बात इन चार नेताओं के विषय में सच है वही और भी ऐसे बहुतों के बारे में कही जा सकती है जिनके कि मैं नाम गिना सकता हूँ। इन नेताओं के उत्साह का आम लोगों पर भी असर पड़ा।

एक साल में स्वराज्य का आकर्षण

लेकिन यह प्रत्यक्ष परिवर्तन 'एक साल में स्वराज्य' के आकर्षण की वजह से था। इसकी पूर्ति के लिये मैंने जो शर्तें लगायी थीं, उन पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। ख्वाजा अब्दुल मजीद साहब ने तो यहाँ तक कह डाला कि सत्याग्रह-सेना के—

जैसी कि कांग्रेस उस समय बन गयी थी और अभी भी है (यदि कांग्रेसवादी सत्याग्रह के अर्थ को महसूस करें)—सेनापति की हैसियत से मुझे इस बात का निश्चय कर लेना चाहिये था कि मैं जो शर्तें लगा रहा हूँ वे ऐसी हैं जो पूरी हो जायँगी। शायद उनका कहना ठीक ही था। सिर्फ वह ज्ञानचक्षु मेरे पास नहीं था। सामूहिक रूप में और राजनीतिक उद्देश्य से अहिंसा का उपयोग खुद मेरे लिये भी एक प्रयोग ही था। इसलिये मैं गर्व-पूर्वक कोई दावा नहीं कर सकता था। मेरी शर्तों का यह उद्देश्य था कि जिससे लोगों की शक्ति का अन्दाज लग सके। वे पूरी हो भी सकती थीं और नहीं भी हो सकती थीं। गलतियों, या गलत अन्दाजों की तो सदा ही सम्भावना थी। जो भी हो, जब स्वराज्य की लड़ाई लम्बी हो गयी और खिलाफत के सवाल में जान न रही तो लोगों का उत्साह मन्द पड़ने लगा, अहिंसा में नीति के तौर पर भी विश्वास ढीला पड़ने लगा और असत्य का प्रवेश हो गया। जिन लोगों का इन दोनों गुणों में या खद्दर की शर्त में कोई विश्वास नहीं था, वे इसमें घुस आये, और बहुतों ने तो खुले आम भी कांग्रेस विधान की अवहेलना करना शुरू कर दिया।

यह बुराई बराबर बढ़ती ही गयी। कार्यसमिति कांग्रेस को इस बुराई से मुक्त करने का कुछ प्रयत्न करती रही है, लेकिन दृढ़तापूर्वक नहीं, और न कांग्रेस के सदस्यों की संख्या कम हो जाने के खतरे को उठाने के लिये तैयार हो सकी है। मैं खुद तो संख्या के बजाय गुण में ही ज्यादा विश्वास करता हूँ।

लेकिन अहिंसा की योजना में जबरदस्ती का कोई काम नहीं है। उसमें तो इसी बात पर निर्भर रहना पड़ता है कि लोगों की बुद्धि और हृदय तक—उसमें भी बुद्धि की अपेक्षा हृदय पर ज्यादा—पहुँचने की क्षमता प्राप्त की जाय।

सत्याग्रह-सेनापति में ताकत

इसका यह अभिप्राय हुआ कि सत्याग्रह-सेनापति के शब्द में ताकत होनी चाहिये—वह ताकत नहीं जो असीमित अस्त्रों से प्राप्त होती है, बल्कि वह जो जीवन की शुद्धता, दृढ़ जागरूकता और सतत आचरण से प्राप्त होती है। यह ब्रह्मचर्य का पालन किये बग़ैर असम्भव है। इसका इतना सम्पूर्ण होना आवश्यक है जितना कि मनुष्य के लिये सम्भव है। ब्रह्मचर्य का अर्थ यहाँ खाली दैहिक आत्मसंयम या निग्रह ही नहीं है। इसका तो इससे कहीं अधिक अर्थ है। इसका मतलब है सभी इन्द्रियों पर पूर्ण नियमन। इस प्रकार अशुद्ध विचार भी ब्रह्मचर्य का भंग है और यही हाल क्रोध का है। सारी शक्ति उस वीर्य-शक्ति की रक्षा और ऊर्ध्वगति से प्राप्त होती है जिससे कि जीवन का निर्माण होता है। अगर इस वीर्य-शक्ति का, नष्ट होने देने के बजाय, संचय किया जाय, तो यह सर्वोत्तम सृजन-शक्ति के रूप में परिणत हो जाती है। बुरे या अस्तव्यस्त, अव्यवस्थित, अवांछनीय विचारों से भी इस शक्ति का बराबर और अज्ञात रूप से भी क्षय होता रहता है। और चूंकि विचार ही सारी वाणी और क्रियाओं का मूल होता है, इसलिये वे भी इसी का अनुसरण करती हैं। इसीलिये, पूर्णतः

नियंत्रित विचार खुद ही सर्वोच्च प्रकार की शक्ति है और स्वतः क्रियाशील बन सकता है। मूक रूप में की जानेवाली हार्दिक प्रार्थना का मुझे तो यही अर्थ मालूम पड़ता है। अगर मनुष्य ईश्वर की मूर्ति का उपासक है, तो उसे अपने सीमित क्षेत्र के अन्दर किसी बात की इच्छा भर करने की देर है, जैसा वह चाहता है वैसा ही बन जाता है। जिस तरह चूनेवाले नल में भाप रखने से कोई शक्ति पैदा नहीं होती उसी प्रकार जो अपनी शक्ति का किसी रूप में क्षय होने देता है उसमें इस शक्ति का होना असम्भव है। प्रजोत्पत्ति के निश्चित उद्देश से न किया जानेवाला काम-सम्बन्ध इस शक्ति-क्षय का एक बहुत बड़ा नमूना है, इसलिये उसकी खास तौर से जो निन्दा की गयी है, वह ठीक ही है। लेकिन जिसे अहिंसात्मक कार्य के लिये मनुष्य-जाति के विशाल समूहों को संघटित करना है, उसे तो इन्द्रियों के जिस पूर्ण निग्रह का मैंने ऊपर वर्णन किया है उसको प्रयत्न पूर्वक प्राप्त करना ही चाहिये।

ईश्वर की कृपा के बगैर यह संपूर्ण इन्द्रिय-निग्रह सम्भव नहीं है। गीता के दूसरे अध्याय में एक श्लोक है, "विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिन, रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।" अर्थात्, जबतक उपवास किये जाते हैं, तबतक इन्द्रियाँ विषयों की ओर नहीं दौड़तीं, पर अकेले उपवास से रस सूख नहीं जाते। उपवास छोड़ते ही वे और बढ़ भी सकते हैं। इसको वश में करने के लिये तो ईश्वर का प्रसाद आवश्यक है। यह नियमन यांत्रिक या अस्थायी नहीं है। एक बार प्राप्त हो जाने

के बाद यह कभी नष्ट नहीं होता। उस हालत में वीर्य-शक्ति इस तरह सुरक्षित रहती है कि अगणित रास्तों में से किसी में होकर उससे निकलने की सम्भावना ही नहीं रहती।

कहा गया है कि ऐसा ब्रह्मचर्य यदि किसी तरह प्राप्त किया जा सकता हो तो वह कन्दराओं में रहनेवाले ही कर सकते होंगे। ब्रह्मचारी को तो, कहते हैं, स्त्रियों का स्पर्श तो क्या, उनका दर्शन भी कभी न करना चाहिये। निस्सन्देह, किसी ब्रह्मचारी को कामवासना से किसी स्त्री को न तो छूना चाहिये, न देखना चाहिये और न उसके विषय में कुछ कहना या सोचना ही चाहिये। लेकिन ब्रह्मचर्य विषयक पुस्तकों में हमें यह जो वर्जन मिलता है उसमें इसके महत्वपूर्ण विशेषण 'कामवासनापूर्वक' का उल्लेख नहीं मिलता। इस छूट की वजह यह मालूम पड़ती है कि ऐसे मामलों में मनुष्य निष्पक्ष रूप से निर्णय नहीं कर सकता और इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि कब उस पर ऐसे सम्पर्क का असर पड़ा और कब नहीं। काम-विकार अक्सर अनजाने ही उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिये दुनिया में आजादी से सब के साथ हिलने-मिलने पर ब्रह्मचर्य का पालन यद्यपि कठिन है, लेकिन अगर संसार से नाता तोड़ लेने पर ही यह प्राप्त हो सकता हो तो उसका कोई विशेष मूल्य ही नहीं है।

दूसरी स्त्रियाँ माता के समान

जैसे भी हो, मैंने तो तीस वर्ष से भी अधिक समय से प्रवृत्तियों के बीच रहते हुए ब्रह्मचर्य का खासी सफलता के साथ

पालन किया है। ब्रह्मचर्य का जीवन बिताने का निश्चय कर लेने के बाद अपनी पत्नी के साथ के व्यवहार को छोड़कर, मेरे बाह्य आचरण में कोई अन्तर नहीं पड़ा। दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के बीच मुझे जो काम करना पड़ा, उसमें मैं स्त्रियों के साथ आजादी के साथ हिलता-मिलता था। ट्रांसवाल और नेटाल में शायद ही कोई ऐसी भारतीय स्त्री हो जिसे मैं न जानता हूं। मेरे लिये तो वे सभी बहनें और बेटियाँ ही थीं। मेरा ब्रह्मचर्य पुस्तकीय नहीं है। मैंने तो अपने तथा उन लोगों के लिये जो कि मेरे कहने पर इस प्रयोग में शामिल हुए हैं, अपने ही नियम बनाये हैं। और अगर मैंने इसके लिये निर्दिष्ट निषेधों का अनुसरण नहीं किया है, तो धार्मिक साहित्य तक में स्त्रियों को जो सारी बुराई और प्रलोभन का द्वार बताया गया है उसे मैं इतना भी नहीं मानता। मैं तो ऐसा मानता हूँ कि मुझ में जो भी अच्छाई हो वह सब मेरी माँ की बदौलत है, इसलिये स्त्रियों को मैंने कभी इस तरह नहीं देखा कि कामवासना की तृप्ति के लिये ही वे बनायी गयी हैं, बल्कि हमेशा उसी श्रद्धा के साथ देखा है जो कि मैं अपनी माता के प्रति रखता हूँ। पुरुष ही प्रलोभन देनेवाला और आक्रमण करनेवाला है। स्त्री के स्पर्श से वह अपवित्र नहीं होता, बल्कि अक्सर वह खुद ही उसका स्पर्श करने लायक पवित्र नहीं होता। लेकिन हाल में मेरे मन में यह सन्देह जरूर उठा है कि स्त्री या पुरुष के सम्पर्क में आने के लिये ब्रह्मचारी या ब्रह्मचारिणी को किस तरह की मर्यादाओं का पालन करना चाहिये। मैंने जो मर्यादाएँ रखी हैं वे मुझे पर्याप्त नहीं

मालूम पड़तीं। लेकिन वे क्या होनी चाहिये, यह मैं नहीं जानता। मैं तो प्रयोग कर रहा हूँ। इस बात का मैंने कभी दावा नहीं किया कि मैं अपनी परिभाषा के अनुसार पूरा ब्रह्मचारी बन गया हूँ। अब भी मैं अपने विचारों पर उतना नियन्त्रण नहीं रख सकता हूँ जितने नियंत्रण की अपनी अहिंसा की शोधों के लिये मुझे आवश्यकता है। लेकिन अगर मेरी अहिंसा ऐसी हो जिसका दूसरों पर असर पड़े और वह उनमें फैले, तो मुझे अपने विचारों पर और अधिक नियंत्रण करना ही चाहिये। इस लेख के प्रारम्भिक वाक्य में नेतृत्व की जिस प्रत्यक्ष असफलता का उल्लेख किया गया है, उसका कारण शायद कहीं न कहीं किसी कमी का रह जाना ही है।

अहिंसा में मेरा विश्वास हमेशा की तरह दृढ़ है। मुझे इस बात का पूरा विश्वास है कि इससे न केवल हमारे देश की ही सारी आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिये, बल्कि अगर ठीक तरह से इसका पालन किया जाय तो यह उस खून खराबी को भी रोक सकती है जो हिन्दुस्तान के बाहर हो रही है और सारे पश्चिमी संसार में जिसके व्याप्त हो जाने का अन्देशा है।

मेरी आकांक्षा तो मर्यादित है। परमेश्वर ने मुझे इतनी शक्ति नहीं दी है जो अहिंसा के पथ पर सारी दुनिया की रहनुमाई करूँ। लेकिन मैंने यह कल्पना जरूर की है कि हिन्दुस्तान की अनेक खराबियों के निवारणार्थ अहिंसा का प्रयोग करने के लिये उसने मुझे अपना औजार बनाया है। इस दिशा में अभी तक जो प्रगति हो चुकी है वह महान् है; लेकिन अभी बहुत कुछ करना बाकी

है। इतने पर भी मुझे ऐसा लगता है कि इसके लिये आम तौर पर कांग्रेसवादियों की जो सहानुभूति आवश्यक है उसे उकसाने की शक्ति मुझमें नहीं रही है। जो अपने औजारों को ही बुरा बतलाता रहता है वह कोई अच्छा बढ़ई नहीं है। यह तो 'नाच न आवे, आँगन टेढ़ा' की मसल होगी। इसी तरह बिगड़े हुए कामों के लिये अपने आदमियों को दोष देनेवाला सेनापति भी अच्छा नहीं कहा जा सकता। पर मैं यह जानता हूँ कि मैं बुरा सेनापति नहीं हूँ। अपनी मर्यादाओं को जानने की जितनी बुद्धि मुझमें मौजूद है, अगर कभी उसका मेरे अन्दर दिवाला निकल जाय, तो ईश्वर मुझे इतनी शक्ति देगा कि मैं उसकी स्पष्ट घोषणा कर दूँगा।

उसकी कृपा से मैं कोई आधी सदी से जो काम कर रहा हूँ अगर उसके लिये मेरी और जरूरत न रही तो शायद वह मुझे उठा लेगा। लेकिन मेरा खयाल है कि मेरे करने को अभी काफी काम है। जो अन्धकार मेरे ऊपर छा गया मालूम पड़ता है वह नष्ट हो जायगा, और स्पष्टतया अहिंसात्मक साधनों से भारत अपने लक्ष्य को पहुँच जायगा—फिर इसके लिये चाहे डांडी-कूच से भी ज्यादा उग्र लड़ाई लड़नी पड़े या उसके बगैर ही ऐसा हो जाय। मैं ईश्वर से उस प्रकाश की याचना कर रहा हूँ जो अन्धकार का नाश कर देगा। अहिंसा में जिनकी जीवित श्रद्धा हो उन्हें इसमें मेरा साथ देना चाहिये।

---

(२)

हिंसा बनाम अहिंसा

हिन्दुस्तान में आज जगह-जगह हिंसा और अहिंसा की पद्धतियों के बीच द्वन्द्व युद्ध चल रहा है। हिंसा तो पानी के प्रवाह की तरह है। पानी को निकलने का रास्ता मिलते ही उसमें से उसका प्रवाह भयानक जोर से बहने लगता है। अहिंसा पागलपने से काम कर ही नहीं सकती। वह तो अनु-शासन का सारतत्त्व है। किन्तु जब वह सक्रिय बन जाती है तब फिर हिंसा की कोई भी शक्ति उसे जेर नहीं कर सकती। अहिंसा सोलहो कलाओं से वहीं उदित होती है जहाँ उसके नेताओं में कुंदन की जैसी शुद्धता और अटूट श्रद्धा होती है। इसलिए द्वन्द्व में यदि अहिंसा हारती हुई दिखाई दे तो ऐसा नेताओं की श्रद्धा कम होने से या उनकी शुद्धता में कमी आ जाने से ही अथवा दोनों ही कारणों से होगा। यह होते हुए भी अन्त में हिंसा पर अहिंसा की ही विजय होगी, यह मानने का कारण मालूम होता है। जो घटनाएँ घट रही हैं उनका रुख ऐसा है कि हिंसा की व्यर्थता कार्यकर्ता खुद ही समझ जायँगे। पर एक प्रसिद्ध कार्य-कर्ता ने लिखा है—

"सत्याग्रह का मुकाबला करने का रियासतों का तरीका ब्रिटिश सत्ता के तरीके से भिन्न मालूम होता है। कुछ रियासतों में जो तरीके अख्तियार किये गये हैं वे बहुत ही अमानुषिक और

बर्बर हैं। ऐसी पशुता के आगे क्या अहिंसा सफल होगी? स्त्रियों की इज्जत-आबरू की रक्षा करने की भी वहाँ इजाजत नहीं। साधारण कानून भी ऐसी रक्षा का अधिकार देता है तो फिर बर्बर और अमानुषिकतन्त्र का सामना करने में यह हक क्यों न काम में लाया जाय? इन प्रश्नों पर क्या आप प्रकाश डालेंगे?"

"उड़ीसा के पोलिटिकल एजेण्ट की हत्या के सम्बन्ध में आपने जो विचार प्रकट किये हैं उन्हें मैंने कई बार पढ़ा है। अफसोस की बात यह है कि उड़ीसा के देशी राज्यों की प्रजा पर जो अत्याचार हुए हैं उनका आपने उल्लेख नहीं किया। एजेण्ट की हत्या, क्या देशी राज्यों के अधिकारियों को रहमदिल बनाने के लिए एक दैवी चेतावनी नहीं है? कुल मिला कर देखा जाय तो देशी राज्यों की प्रजा और पोलिटिकल विभाग, इन दोनों में हमारी सहानुभूति का कौन अधिक पात्र है? अगर भीड़ ने पोलिटिकल एजेण्ट के विरुद्ध हिंसा से काम लेने में गलती की तो क्या पोलिटिकल एजेण्ट का गोली चलाना और इस तरह भीड़ को उत्तेजना दिलाने का काम उचित था? और जिस भयानक दमन के लिए पोलिटिकल एजेण्ट जिम्मेवार था उसके लिए आप क्या कहेंगे? यह सही है कि पोलिटिकल एजेण्ट की हत्या एक शोचनीय घटना है, पर इसके लिए कौन जवाबदेह है? अगर एजेण्ट ने उड़ीसा के देशी राज्यों को उचित सलाह दी होती और भयंकर दमन में खुद हिस्सा न लिया होता तो लोग काबू से बाहर न हो पाते।"

"यह घटना देशी राज्यों में काम करने वालों के लिए

चेतावनी-स्वरूप साबित होनी चाहिए, आपके इस कथन से तो मैं सहमत हूँ। पर साथ ही, सत्य और अहिंसा के आप जैसे महान् उपदेशक ने भारत सरकार के पोलिटिकल विभाग को— और खास कर पूरब के देशी राज्यों की एजेन्सी को भी क्यों चेतावनी नहीं दी कि देशी राज्यों की प्रजा के साथ बर्ताव करने में ऐसे जङ्गली तरीके अख्तियार न करें? एजेन्सी की काररवाई सचमुच ही भयंकर है और पोलिटिकल एजेण्ट की हत्या एजेन्सी की पाशविक दमन नीति की पराकाष्ठा का परिणाम है। यह घटना शोचनीय जरूर है पर एजेण्ट इसके लिए खुद जवाबदेह था। और भीड़ के द्वारा मारे गये एजेण्ट के लिये हमदर्दी अगर जाहिर की जाती है तो उसी जगह जो दो आदमी—ज्यादातर पुलिस की हिंसा के परिणाम स्वरूप—मारे गये, उनके लिए सहानुभूति क्यों न जाहिर की जाय? मुझे तो ऐसा लगता है कि एजेण्ट बजलगेट की हत्या सब से पहले तो भारत सरकार और पोलिटिकल विभाग तथा देशी राज्यों के लिए और बाद को हमारे लिए चेतावनी-स्वरूप मानी जानी चाहिये।"

निस्सन्देह आत्मरक्षा का अधिकार सब को है, और इसी तरह सशस्त्र विद्रोह करने का अधिकार भी है। पर गहराई से विचार करने के बाद कांग्रेस ने जान-बूझ कर दोनों को ही तर्क कर दिया है। कांग्रेस ने ऐसा प्रबल कारणों से किया है। अहिंसा में यदि बड़ी से बड़ी उत्तेजना के आगे भी डटे रहने और पस्त हिम्मत न होने की ताकत न हो तो उसकी कोई बहुत बड़ी कीमत नहीं। चाहे जितनी उत्तेजना के सामने टिके रहने की शक्ति ही उसकी

सच्ची कसौटी है। स्त्रियों का सतीत्व लूटा गया हो और उसे अपनी आँखों देखने वाले अहिंसावादी साक्षी हों तो वे जीवित कहाँ से रहेंगे ? और सतीत्व लुटने की घटनाओं का पीछे पता लगा तो उस वक्त फिर हिंसक बल के प्रयोग का अर्थ ही क्या रहा ? अहिंसा का तरीका तो पीछे भी कारगर हो सकता है। अत्याचारियों पर मामला चलाया जा सकता है, या उनके कृत्य लोकमत के आगे खोल कर रखे जा सकते हैं। अपराधियों को क्रुद्ध भीड़ के सामने कर देना तो बर्बरतापूर्ण ही समझा जा सकता है।

एजेण्ट की हत्या से सम्बन्ध रखने वाली दलील अप्रस्तुत है। मुझे एक तरफ राज्यकर्त्ता तथा पोलिटिकल एजेण्ट और दूसरी तरफ लोगों की कारखाई का न्याय कुछ तौलना तो था नहीं। एजेण्ट की हत्या की साफ-साफ शब्दों में निन्दा करना, और वह भी सिर्फ सहानुभूति की भावना से नहीं बल्कि कांग्रेस की मौलिक नीति का भंग करने और अनुशासनहीन कृत्य के लिए,—इतना ही मेरे लिए काफी था। राजाओं के दुष्कृत्यों पर मैंने 'हरिजन' में अक्सर प्रकाश डाला है, पर इसलिए नहीं कि लोग उन पर अपना गुस्सा उतारें बल्कि लोगों को यह बताने के ही एक मात्र हेतु से कि वे उन दुष्कृत्यों का अहिंसक मुकाबला किस प्रकार कर सकते हैं। उड़ीसा में खासा सुन्दर काम चल रहा था, इस बात का मैं काफी प्रमाण दे सकता हूँ। इस हत्या ने वहाँ के आन्दोलन में जो ठीक तरह से चल रहा था, खलल डाल दिया है। रणपुर आज भयानक जङ्गल बन गया है। निर्दोष और दोषी सभी भाग कर इधर उधर छिप रहे हैं। दमन से बचने के लिए

वे घर-बार छोड़-छाड़ कर गाँवों को वीरान करते जा रहे हैं, क्योंकि यह बात तो है नहीं कि केवल वास्तविक अपराधी ही दमन की चक्की में पिसेंगे। किसी न किसी रूप में यहाँ आतंक फैलाया जा रहा है, और सारे हिन्दुस्तान को लाचार होकर आज यह सब देखना पड़ रहा है। सत्ताधारी अपने अफसरों की—खास कर गोरे अफसरों की—हत्या होने पर किसी दूसरे तरीके से काम लेना जानते ही नहीं। नया तरीका जानने के लिए तो अहिंसा के मार्ग की उन्हें धीरे-धीरे शिक्षा लेनी है। पर मुझे अपनी दलील को बहुत विस्तार देने की जरूरत नहीं। हाथ-कंगन को आरसी की जरूरत ही क्या? दोनों ही मार्गों की हिन्दुस्तान में आज परीक्षा हो रही है। कार्यकर्ताओं को दोनों में से एक मार्ग चुन लेना है। मैं यह जानता हूँ कि भारतवर्ष केवल अहिंसा के ही मार्ग से स्वतन्त्र होगा। जो कार्यकर्ता कांग्रेस में रह कर इससे अन्यथा विचार रखते हैं अथवा उलटी रीति से काम लेते हैं वे अपने आपको तथा कांग्रेस को धक्का पहुँचा रहे हैं।

---

(३)

स्वतंत्रता कैसे प्राप्त होगी ?

अहिंसा और सत्याग्रह के पूर्णतः पालने से

देशी राज्यों के मामलों में दखल न देने का जो निश्चय कांग्रेस ने किया था उसका औचित्य हाल की घटनाओं ने प्रमाणित कर दिया है। किसी राज्य का शासन-विधान चाहे कितना ही अन्यायपूर्ण, मनमाना और अयुक्ति संगत क्यों न हो, पर बात यह है कि प्रत्येक राज्य—छोटा हो चाहे बड़ा—जहाँ तक अन्य राज्यों से या देश के उस भाग से उसका सम्बन्ध है जो ब्रिटिश भारत कहलाता है, कानूनी और राज-नीतिक दृष्टि से एक स्वतन्त्र सत्ता है। हम लोगों में समानता इस बात की है कि हम समान रूप से ब्रिटिश शासन के लोहे के पंजे में जकड़े हुए हैं, किन्तु भौगोलिक तथा राष्ट्रीय दृष्टि से देशी राज्यों की प्रजा तथा भारत के अन्य भागों की जनता बिलकुल एक है, वह दो भागों में विभक्त नहीं की जा सकती। हम तैंतीस करोड़ नर-नारियों की जिस्म में एक ही रक्त प्रवाहित होता है। कोई शासन-विधान या कोई सैनिक नीति हम लोगों को एक दूसरे से पृथक् नहीं कर सकती। हमारा यह स्वाभाविक सम्बन्ध बिना किसी विघ्नबाधा के बराबर बना हुआ है।

शक्ति आजमाने का मौका

अहस्तक्षेप सम्बन्धी निश्चय द्वारा कांग्रेस ने [illegible] के
लोगों को अपनी शक्ति आजमाने का मौका दिया है, अर्थात् [illegible]
अन्दर जो ताकत छिपी हुई थी उसे [illegible]
प्रोत्साहित किया है। हाल की कुछ घटनाओं से मालूम है कि [illegible]
एक बार उन लोगों को अपनी शक्ति का पता लग गया [illegible]
किसी तरह की बाहरी सहायता के ही उन्होंने सत्याग्रह प्रारंभ किया
है और उसमें कामयाबी भी हासिल की है। इसका नतीजा यह
हुआ कि देशी राज्यों के अधिकारियों को खुद आगे बढ़कर
अपनी प्रजा और अपने बीच का समझौता [illegible] के लिए
कांग्रेसजनों से सहायता लेनी पड़ी।

इसमें संदेह नहीं कि मनुष्य की और जो भी शक्तियाँ मालूम
हैं उन्हीं की तरह इसका भी क्षेत्र परिमित है। कांग्रेस ऐसी मांगें
नहीं पेश कर सकती जो अनुचित हों। लोगों की जो शिकायत
हो वह वास्तविक होनी चाहिये और उन्हें दूर करने के
प्रयत्न में शुद्ध हृदय से ही लगना चाहिये, क्योंकि सत्याग्रह का
शस्त्र अहिंसात्मक है। मतलब यह कि यदि हमारा पक्ष बिलकुल
न्यायपूर्ण है तो उसके समर्थन के लिये हमें अपने विरोधी को
तकलीफ न पहुंचाते हुए खुद कष्ट सहने के लिये तैयार
रहना चाहिये।

यदि देशी राज्यों के प्रजाजन सत्याग्रह और अहिंसा की
शक्ति का पूरा अर्थ समझ जायँ तो वहाँ सम्पूर्ण भारत के अपनी

हक हासिल करने के पहले ही सापेक्ष स्वातन्त्रता मिल सकती है। इस प्रकार उन्हें ब्रिटिश भारत की उलझनों में पड़े बिना ही अहिंसामय भाषण करने, लेख लिखने और कार्य करने की पूरी आजादी प्राप्त हो सकती है।

वे बिना किसी विशेष परिश्रम के राजाओं के निजी खर्च का नियमन कर सकते हैं और कम खर्च में शुद्ध न्याय पाने की बात पक्की करा सकते हैं। वे नौकरशाही के शिकंजे में पड़े हुए ब्रिटिश भारत की अपेक्षा अधिक आसानी से गरीबों की समस्या और ग्रामसुधार का हल निकाल सकते हैं।

यही उनका 'स्वराज' होगा, हालां कि कांग्रेस जो स्वाधीनता चाहती है उससे यह कम ही होगा। यदि बड़ी बड़ी रियासतों की प्रजा अपनी पूरी शक्ति से कोशिश करे तो पूर्ण स्वाधीनता इतनी जल्द मिल सकती है कि जिसकी कल्पना किसी ने स्वप्न में भी न की होगी।

अतः देशी राज्यों की स्थिति सुधारने का प्रयत्न करनेवालों को चाहिये कि वे बहुत ज्यादा उतावले न हों। उन्हें अपनी सीमा के बंधनों और विजय पाने के लिये अहिंसा एवं सत्य का पूर्ण रूप से अनुसरण करने की शर्त को न भूल जाना चाहिये। उन्हें जरा भी चूं चां किये बिना बन्दूक की गोलियाँ सहने को तैयार रहना चाहिये और तथा-कथित आत्म-रक्षा के लिये भी एक उंगली तक न उठानी चाहिये।

---

(४)

उच्च शिक्षा

अंग्रेजी को माध्यम बनाने से भारत की अति हानि

कालेजों की साहित्यिक पढ़ाई समय-शक्ति की खालिस बर्बादी

उच्च शिक्षा के बारे में कुछ समय पूर्व मैंने डरते-डरते संक्षेप में जो विचार प्रकट किये थे उनकी माननीय श्री श्रीनिवास शास्त्री ने नुक्ताचीनी की है, जिसका कि उन्हें पूरा हक है। मनुष्य, देशभक्त और विद्वान् के रूप में मेरे हृदय में उनके लिये बहुत अधिक आदर है। इसलिये जब मैं अपने को उनसे असहमत पाता हूँ तो मेरे लिये हमेशा ही यह बड़े दुःख की बात होती है। इतने पर भी कर्तव्य मुझे इस बात के लिये बाध्य कर रहा है कि उच्च शिक्षा के विषय में मेरे जो विचार हैं उन्हें मैं पहले से भी अधिक पूर्णता के साथ फिर से व्यक्त कर दूँ, जिससे पाठक खुद ही मेरे और उनके विचारों के भेद को समझ लें।

अपनी मर्यादाओं को मैं स्वीकार करता हूँ। मैंने विश्वविद्यालय की कोई नाम लेने योग्य शिक्षा नहीं पायी है। मेरा स्कूली जीवन भी औसत दर्जे से अधिक अच्छा कभी नहीं रहा। मैं तो यही बहुत समझता था कि किसी तरह इम्तिहान में पास हो जाऊँ। स्कूल में 'डिस्टिंक्शन' यानी विशेष योग्यता पाना तो ऐसी बात थी जिसकी मैंने कभी आकांक्षा भी नहीं की। मगर फिर भी

शिक्षा के विषय में, जिसमें कि वह शिक्षा भी शामिल है जो उच्च शिक्षा कही जाती है, आमतौर पर मैं बहुत दृढ़ विचार रखता हूँ। और देश के प्रति मैं अपना यह कर्तव्य समझता हूँ कि मेरे विचार स्पष्ट रूप से सब को मालूम हो जायँ और उनकी वास्तविकता सब के सामने आ जाय। इसके लिये मुझे अपनी उस भीरुता या संकोच-भावना को छोड़ना ही पड़ेगा जो लगभग आत्म-दमन की हद तक पहुँच गयी है। इसके लिये न तो मुझे उपहास का भय करना चाहिये, न लोकप्रियता या प्रतिष्ठा घटने की ही चिन्ता होनी चाहिये। क्योंकि अगर मैं अपने विश्वास को छिपाऊँगा तो निर्णय की भूलों को कभी दुरुस्त न कर सकूँगा। लेकिन मैं तो हमेशा उन्हें ढूँढने और उससे भी अधिक उन्हें सुधारने के लिये उत्सुक हूँ।

अब मैं अपने उन निष्कर्षों को बता दूँ जिन पर कि मैं कई वर्षों से पहुँचा हुआ हूँ, और जब कभी मौका मिला है उनको अमल में लाने की कोशिश की है।

(१) दुनिया में प्राप्त हो सकने वाली ऊँची से ऊँची शिक्षा का भी मैं विरोधी नहीं हूँ।

(२) राज को जहाँ भी निश्चित रूप से इसकी जरूरत हो वहाँ इसका खर्च उठाना चाहिये।

(३) साधारण आमदनी द्वारा सारी उच्च शिक्षा का खर्च चलाने के मैं खिलाफ हूँ।

(४) मेरा यह निश्चित विश्वास है कि हमारे कालेजों में साहित्य की जो इतनी सारी तथा कथित शिक्षा दी जाती है वह

सब बिलकुल व्यर्थ है और उसका परिणाम शिक्षित वर्ग की बेकारी के रूप में हमारे सामने आया है। यही नहीं, बल्कि जिन लड़के-लड़कियों को हमारे कालेजों की चक्की में पिसने का दुर्भाग्य प्राप्त हुआ है उनके मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य को भी इसने चौपट कर दिया है।

(५) विदेशी भाषा के माध्यम ने, जिसके जरिये कि भारत में उच्च शिक्षा दी जाती है, हमारे राष्ट्र को हद से ज्यादा बौद्धिक और नैतिक आघात पहुँचाया है। अभी हम अपने इस जमाने के इतने नजदीक हैं कि इस नुकसान का निर्णय नहीं कर सकते। और फिर, ऐसी शिक्षा पाने वाले हमी को इसका शिकार और न्यायाधीश दोनों बनना है, जो कि लगभग असम्भव काम है।

अब मेरे लिये यह बतलाना आवश्यक है कि मैं इन निष्कर्षों पर क्यों पहुँचा। यह शायद अपने कुछ अनुभवों के द्वारा ही मैं सब से अच्छी तरह बतला सकता हूँ।

१२ बरस की उम्र तक मैंने जो कुछ भी शिक्षा पायी वह अपनी मातृभाषा गुजराती में पायी थी। उस वक्त गणित, इतिहास और भूगोल का मुझे थोड़ा-थोड़ा ज्ञान था। इसके बाद मैं एक हाइ स्कूल में दाखिल हुआ। इसमें भी पहले तीन साल तक तो मातृभाषा ही शिक्षा का माध्यम रही। लेकिन स्कूल-मास्टर का काम तो विद्यार्थियों के दिमाग में जबरदस्ती अंग्रेजी ठूँसना था। इसलिये हमारा आधे से अधिक समय अंग्रेजी और उसके मनमाने हिज्जों तथा उच्चारण पर काबू पाने में लगाया जाता था। ऐसी भाषा का पढ़ना हमारे लिये एक कष्टपूर्ण अनुभव था

जिसका उच्चारण ठीक उसी तरह नहीं होता जैसी कि वह लिखी जाती है। हिज्जों को कण्ठस्थ करना एक अजीब सा अनुभव था। लेकिन यह तो मैं प्रसंगवश कह गया, वस्तुतः मेरी दलील से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। मगर पहले तीन साल तो तुलनात्मक रूप में ठीक ही निकल गये। फजीहत तो चौथे साल से शुरू हुई। अलजबरा [बीजगणित], केमिस्ट्री [रसायन शास्त्र], ऐस्ट्रानामी [ज्योतिष], हिस्ट्री [इतिहास], ज्याग्रफी [भूगोल] हरेक विषय मातृभाषा के बजाय अंग्रेजी में ही पढ़ना पड़ा। कक्षा में अगर कोई विद्यार्थी गुजराती, जिसे कि वह समझता था, बोलता तो उसे सजा दी जाती थी। हाँ, अंग्रेजी को, जिसे न तो वह पूरी तरह समझ सकता था और न शुद्ध बोल सकता था, अगर वह बुरी तरह बोलता तो भी शिक्षक को कोई आपत्ति न होती थी। शिक्षक भला इस बात की फिक्र क्यों करे? क्योंकि खुद उसकी ही अंग्रेजी निर्दोष नहीं थी। इसके सिवा और हो भी क्या सकता था? क्योंकि अंग्रेजी उसके लिये भी उसी तरह विदेशी भाषा थी जिस तरह कि उसके विद्यार्थियों के लिये थी। इससे बड़ी गड़बड़ होती। हम विद्यार्थियों को अनेक बातें कण्ठस्थ करनी पड़तीं, हालां कि हम उन्हें पूरी तरह नहीं समझ सकते थे और कभी-कभी तो बिलकुल ही नहीं समझते थे। शिक्षक के हमें ज्यामेट्री [रेखागणित] समझाने की भरपूर कोशिश करने पर मेरा सिर घूमने लगता। सच तो यह है कि यूक्लिड [रेखागणित] की पहली पुस्तक के १३ वें साध्य तक जब तक हम न पहुँच गये, मेरी समझ में ज्यामेट्री बिलकुल नहीं

आयी। और पाठकों के सामने मुझे यह कबूल करना ही चाहिये कि मातृभाषा के अपने सारे प्रेम के बावजूद आज भी मैं यह नहीं जानता कि ज्यामेट्री, अलजबरा आदि की पारिभाषिक बातों को गुजराती में क्या कहते हैं। हाँ, यह अब मैं जरूर देखता हूँ कि जितना गणित, रेखागणित, बीजगणित, रसायनशास्त्र और ज्योतिष सीखने में मुझे चार साल लगे, अगर अंग्रेजी के बजाय गुजराती से मैंने उन्हें पढ़ा होता तो उतना मैंने एक ही साल में आसानी से सीख लिया होता। उस हालत में मैं आसानी और स्पष्टता के साथ इन विषयों को समझ लेता। गुजराती का मेरा शब्द-ज्ञान कहीं समृद्ध हो गया होता, और उस ज्ञान का मैंने अपने घर में उपयोग किया होता। लेकिन इस अंग्रेजी के माध्यम ने तो मेरे और मेरे कुटुम्बियों के बीच, जो कि अंग्रेजी स्कूलों में नहीं पढ़े थे, एक अगम्य खाई खड़ी कर दी। मेरे पिता को कुछ पता न था कि मैं क्या कर रहा हूँ। मैं चाहता तो भी अपने पिता की इस बात में दिलचस्पी पैदा नहीं कर सकता था कि मैं क्या पढ़ रहा हूँ। क्योंकि यद्यपि बुद्धि की उनमें कोई कमी न थी मगर वे अंग्रेजी नहीं जानते थे। इस प्रकार अपने ही घर में मैं बड़ी तेजी के साथ अजनबी बनता जा रहा था। निश्चय ही मैं औरों से ऊँचा आदमी बन गया था। यहाँ तक कि मेरी पोशाक भी अपने आप बदलने लगी। लेकिन मेरा जो हाल हुआ वह कोई असाधारण अनुभव नहीं था, बल्कि अधिकांश का यही हाल होता है।

हाइ स्कूल के प्रथम तीन वर्षों में मेरे सामान्य-ज्ञान में बहुत

क्रम वृद्धि हुई। यह समय तो लड़कों को हरेक चीज अंग्रेजी के जरिये सीखने की तैयारी का था। हाइ स्कूल तो अंग्रेजों की सांस्कृतिक विजय के लिए थे। मेरे हाइ स्कूल के तीन सौ विद्यार्थियों ने जो ज्ञान प्राप्त किया वह तो हमी तक सीमित रहा, वह सर्वसाधारण तक पहुँचाने के लिये नहीं था।

अंग्रेजी साहित्य की उपयोगिता

एक दो शब्द साहित्य के बारे में भी। अंग्रेजी गद्य और पद्य की हमें कई किताबें पढ़नी पड़ी थी। इसमें शक नहीं कि यह सब बढ़िया साहित्य था। लेकिन सर्वसाधारण की सेवा या उनके सम्पर्क में आने में उस ज्ञान का मेरे लिए कोई उपयोग नहीं हुआ है। मैं यह कहने में असमर्थ हूँ कि मैंने अंग्रेजी गद्य और पद्य न पढ़ा होता तो मैं एक बेश कीमत खजाने से वंचित रह जाता। इसके बजाय, सच तो यह है कि अगर ये सात साल मैंने गुजराती पर प्रभुत्व प्राप्त करने में लगाये होते और गणित, विज्ञान तथा संस्कृत आदि विषयों को गुजराती में पढ़ा होता, तो इस तरह प्राप्त किये हुए ज्ञान में मैंने अपने अड़ोसियों-पड़ोसियों को आसानी से हिस्सेदार बनाया होता। उस हालत में मैंने गुजराती साहित्य को समृद्ध किया होता, और कौन कह सकता है कि अमल में उतारने की अपनी आदत तथा देश और मातृभाषा के प्रति अपने बेहद प्रेम के कारण सर्वसाधारण की सेवा में मैं और भी अधिक अपनी देन न दे सकता ?

यह हर्गिज न समझना चाहिये कि अंग्रेजी या उसके श्रेष्ठ

साहित्य का मैं विरोधी हूँ। 'हरिजन' मेरे अंग्रेजी-प्रेम का पर्याप्त प्रमाण है। लेकिन उसके साहित्य की महत्ता भारतीय राष्ट्र के लिये उससे अधिक उपयोगी नहीं जितना कि उसका समशीतोष्ण जलवायु, या वहाँ के सुन्दर दृश्य। भारत को तो अपने ही जल-वायु, दृश्यों और साहित्य में तरक्की करनी होगी, फिर चाहे ये अंग्रेजी जल-वायु, दृश्यों और साहित्य से घटिया दर्जे के ही क्यों न हों। हमें और हमारे बच्चों को तो अपनी खुद की ही विरासत बनानी चाहिये। अगर हम दूसरों की विरासत लेंगे तो अपनी नष्ट हो जायगी। सच तो यह है कि विदेशी सामग्री पर हम कभी उन्नति नहीं कर सकते। मैं तो चाहता हूँ कि राष्ट्र अपनी ही भाषा का कोष भरे और इसके लिये संसार की अन्य भाषाओं का कोष भी अपनी ही देशी भाषाओं में संचित करे। रवीन्द्रनाथ की अनुपम कृतियों का सौन्दर्य जानने के लिये मुझे बंगला पढ़ने की कोई जरूरत नहीं, क्योंकि सुन्दर अनुवादों के द्वारा मैं उसे पा लेता हूँ। इसी तरह टाल्सटाय की संक्षिप्त कहानियों की कद्र करने के लिये गुजराती लड़के-लड़कियों को रूसी भाषा पढ़ने की कोई जरूरत नहीं, क्योंकि अच्छे अनुवादों के जरिये वे उन्हें पढ़ लेते हैं। अंग्रेजों को इस बात की फख्र है कि संसार की सर्वोत्तम साहित्यिक रचनाएँ प्रकाशित होने के एक सप्ताह के अन्दर अन्दर सरल अंग्रेजी में उनके हाथों में आ पहुँचती है। ऐसी हालत में, शेक्सपियर और मिल्टन के सर्वोत्तम विचारों और रचनाओं के लिये मुझे अंग्रेजी पढ़ने की जरूरत क्यों हो?

यह एक तरह की अच्छी मितव्ययिता होगी कि ऐसे विद्यार्थियों का अलग ही एक वर्ग कर दिया जाय, जिनका काम यह हो कि संसार की विभिन्न भाषाओं में पढ़ने लायक जो सर्वोत्तम सामग्री हो उसको पढ़ें और देशी भाषाओं में उसका अनुवाद करें। हमारे प्रभुओं ने तो हमारे लिये गलत ही रास्ता चुना है, और आदत पड़ जाने के कारण गलती ही हमें ठीक मालूम पड़ने लगी है।

हमारी इस झूठी अभारतीय शिक्षा से लाखों आदमियों का दिन दिन जो लगातार नुकसान हो रहा है उसके तो रोज ही मैं प्रमाण पा रहा हूँ। जो ग्रेजुएट मेरे आदरणीय साथी हैं, उन्हें जब अपने आन्तरिक विचारों को व्यक्त करना पड़ता है तो वही खुद परेशान हो जाते हैं। वे तो अपने ही घरों में अजनबी हैं। अपनी मातृभाषा के शब्दों का उनका ज्ञान इतना सीमित है कि अंग्रेजी शब्दों और वाक्यों तक का सहारा लिये बगैर वे अपने भाषण को समाप्त नहीं कर सकते, न अंग्रेजी किताबों के बगैर वे रह सकते हैं। आपस में भी वे अक्सर अंग्रेजी में लिखा-पढ़ी करते हैं। अपने साथियों का उदाहरण मैं यह बताने के लिये दे रहा हूँ कि इस बुराई ने कितनी गहरी जड़ जमा ली है। क्योंकि हम लोगों ने अपने को सुधारने का खुद जान बूझ कर प्रयत्न किया है।

सर जगदीशचन्द्र बसु की नजीर

हमारे कालेजों में जो यह समय की बर्बादी होती है उसके पक्ष में दलील यह दी जाती है कि कालेजों में पढ़ने के कारण

इतने विद्यार्थियों में से अगर एक जगदीश बोस भी पैदा हो सके तो हमें इस बर्बादी की चिन्ता करने की जरूरत नहीं। अगर यह बर्बादी अनिवार्य होती तो मैं भी जरूर इस दलील का समर्थन करता। लेकिन मैं आशा करता हूँ कि मैंने यह बतला दिया है कि यह न तो अनिवार्य थी और न अभी ही अनिवार्य है। क्योंकि जगदीश बोस कोई वर्त्तमान शिक्षा की उपज नहीं थे। वह तो भयंकर कठिनाइयों और बाधाओं के बावजूद अपने परिश्रम की बदौलत ऊँचे उठे, और उनका ज्ञान लगभग ऐसा बन गया जो सर्वसाधारण तक नहीं पहुँच सकता। बल्कि मालूम ऐसा पड़ता है कि हम यह सोचने लगे हैं कि जब तक कोई अंग्रेजी न जाने तब तक वह बोस के सदृश महान् वैज्ञानिक होने की आशा नहीं कर सकता। यह ऐसी मिथ्या धारणा है जिससे अधिक की मैं कल्पना ही नहीं कर सकता। जिस तरह हम अपने को लाचार समझते मालूम पड़ते हैं, उस तरह एक भी जापानी अपने को नहीं समझता।

यह बुराई, जिसका कि मैंने वर्णन करने की कोशिश की है, इतनी गहरी पैठी हुई है कि कोई साहसपूर्ण उपाय ग्रहण किये बिना काम नहीं चल सकता। हाँ, कांग्रेसी मन्त्री चाहें तो, इस बुराई को दूर न भी कर सकें तो इसे कम तो कर ही सकते हैं।

विश्वविद्यालय स्वावलम्बी बनें

विश्वविद्यालयों को स्वावलम्बी जरूर बनाना चाहिये। राज्य को तो साधारणतः उन्हीं को शिक्षा देनी चाहिये जिनकी

सेवाओं की उसे आवश्यकता हो। अन्य सब दिशाओं के अध्ययन के लिये उसे निजी प्रयत्न को प्रोत्साहन देना चाहिये। शिक्षा का माध्यम तो एकदम और हर हालत में बदला जाना चाहिये, और प्रान्तीय भाषाओं को उनका वाजिब स्थान मिलना चाहिये। यह जो काबिले सजा बर्बादी रोज-बरोज हो रही है इसके बजाय तो स्थायी रूप से अव्यवस्था हो जाना भी मैं पसन्द करूंगा।

प्रान्तीय भाषाओं का दरजा और व्यावहारिक मूल्य बढ़ाने के लिये मैं चाहूँगा कि अदालतों की काररवाई अपने अपने प्रांत की ही भाषा में हो। प्रान्तीय व्यवस्थापक सभाओं की कारखाई भी प्रांतीय भाषा या, जहाँ एक से अधिक भाषाएँ प्रचलित हों उनमें होनी चाहिये। व्यवस्थापक सभाओं के सदस्यों से मैं कहना चाहता हूँ कि वे चाहें तो एक महीने के अन्दर अन्दर अपने प्रान्तों की भाषाएँ भली भाँति समझ सकते हैं। तामिल भाषा के लिये ऐसी कोई रुकावट नहीं जो वह तेलगु, मलयालम और कन्नड के, जो कि सब तामिल से मिलती-जुलती हुई ही हैं, मामूली व्याकरण और दो चार सौ शब्दों को आसानी से न सीख सके।

मेरी सम्मति में यह कोई ऐसा प्रश्न नहीं है जिसका निर्णय साहित्यज्ञों के द्वारा हो। वे इस बात का निर्णय नहीं कर सकते कि किस स्थान के लड़के-लड़कियों की पढ़ाई किस भाषा में हो। क्योंकि इस प्रश्न का निर्णय तो हरेक स्वतन्त्र देश में पहले ही हो चुका है। न वे यही निर्णय कर सकते हैं कि किन विषयों की पढ़ाई हो, क्योंकि यह उस देश की आवश्यकताओं पर निर्भर

करता है जिस देश के बालकों की पढ़ाई होती है। उन्हें तो बस यही सुविधा प्राप्त है कि राष्ट्र की इच्छा को यथा सम्भव सर्वोत्तम रूप में अमल में लायें। अतः जब हमारा देश वस्तुतः स्वतन्त्र होगा तब शिक्षा के माध्यम का प्रश्न केवल एक ही तरह से हल होगा। साहित्यिक लोग पाठ्य-क्रम बनायेंगे और फिर उसके अनुसार पाठ्य-पुस्तकें तैयार करेंगे, और स्वतन्त्र भारत की शिक्षा पानेवाले विदेशी शासकों को करारा जवाब देंगे। जब तक हम शिक्षित वर्ग इस प्रश्न के साथ खेलवाड़ करते रहेंगे, मुझे इस बात का बहुत भय है कि हम जिस स्वतन्त्र और स्वस्थ भारत का स्वप्न देखते हैं उसका निर्माण नहीं कर पावेंगे। हमें तो सतत प्रयत्न पूर्वक अपनी गुलामी से मुक्त होना है, फिर वह चाहे शिक्षाणात्मक हो या आर्थिक अथवा सामाजिक या राजनैतिक। तीन-चौथाई लड़ाई तो वही प्रयत्न होगा जो कि इसके लिये किया जायगा।

गांधीजी की शिक्षा-पद्धति
और
जनता की शिक्षा

[*प्रोफेसर एन० जी० रंगा, एम० एल० ए०*]

सब लोग यह मानते हैं कि हम सब के प्रथम और बड़े कर्त्तव्यों में से एक यह है कि अज्ञानता दूर की जाय, अशिक्षा दूर की जाय और स्कूल जाने वाले उम्र के लड़कों को स्कूलों में भेजा जाय। इस उद्देश्य में सफलता प्राप्त करना कठिन अवश्य है, लेकिन असम्भव नहीं। मेरा ख्याल यह है कि हम पाँच वर्षों में सब बच्चों को स्कूल में दाखिल करा सकते हैं और दस वर्षों में वयस्कों की शिक्षा में युगांतरकारी सफलता प्राप्त कर सकते हैं, सिर्फ जरूरत यह है कि सार्वजनिक कार्यकर्ता अपना दिल और दिमाग इसमें लगा दें। आखिर, रूस में हुआ क्या? दस वर्ष के छोटे से समय में उसने क्या कर दिखाया? यह महा पूंजीवादी राष्ट्र बोल्शेविज्म में आने के बाद कितनी जल्दी बदला? शासकों की मेहनत और जनता के तात्कालिक सहयोग के फलस्वरूप रूस ने जनता को शिक्षित बनाने में जो सफलता प्राप्त की है, उसका नमूना संसार के इतिहास में नहीं मिलता।

प्रोफेसर एन० जी० रंगा

कुछ आँकड़े और तथ्य

अब जरा समस्या की जड़ों पर आइये। सन् ३५—३६ के तखमीने के अनुसार हमने २५ करोड़ ३६ लाख रुपये ब्रिटिश भारत में सब तरह की शिक्षा पर व्यय किए। इसमें से सिर्फ ५ करोड़ ८ लाख प्राथमिक शिक्षा, १ करोड़ ५० लाख यूनिवर्सिटी और ५ करोड़ ७६ लाख हाई स्कूलों की शिक्षा पर व्यय किये गये। इस तरह आप देखेंगे कि प्राइमरी शिक्षा और उच्च शिक्षा के बीच जो खर्च का विभाजन है, वह अत्यन्त अनुदार है। उदाहरण के लिए ग्रेट ब्रिटेन ले लीजिये। ग्रेट ब्रिटेन ने सारी जनता को प्राथमिक शिक्षा दे डाली है। उसके यहाँ शिक्षा के कुल खर्च में से ६८·२ प्रतिशत प्राथमिक शिक्षा पर व्यय होता है, ३·८ प्रतिशत यूनिवर्सिटी शिक्षा पर और २८·५ प्रतिशत सेकन्डरी शिक्षा पर। इसके विपरीत भारत में हम ३४·३ प्रतिशत प्राथमिक शिक्षा पर और २४·१ प्रतिशत सेकन्डरी शिक्षा पर व्यय कर रहे हैं। मेरी राय में तो इसमें जरा सी भी आपत्ति की गुंजायश नहीं है और न हानिकी ही सम्भावना है, अगर सारी यूनिवर्सिटियाँ, कालेज तथा हाई स्कूल पाँच वर्ष के लिए बन्द कर दिए जायँ और इस तरह जो धन बचे, उसे प्राइमरी शिक्षा के प्रसार में लगाया जाय।

मेरी इस सलाह पर लोग चौंकेंगे और चौकन्ने होंगे, लेकिन उन तथ्यों की जाँच पर यह मानने में आपत्ति नहीं हो सकती कि मेरे उक्त प्रस्ताव से लाभ होने की गुंजाइश है। जरा इन खर्चों

पर नजर दौड़ाने की फिक्र कीजिये। प्राथमिक शिक्षा पर प्रति लड़के पर ७ रु० १२ आ० खर्च होता है और प्रति लड़की पर ९ रु० ६ आना २ पाई। इसके विपरीत हाई स्कूल और यूनिवर्सिटी में प्रति लड़के-लड़की पर यह सालाना खर्च है:—

हाई स्कूल

	रु०	आ०	पा०
लड़की	५०	५	३
लड़का	७८	१४	२

यूनिवर्सिटी

लड़की	३९८	८	८
लड़का	१९१	६	५

मिडिल स्कूल

लड़की	३०	८	६
लड़का	१९	११	१

इस तरह यह समझने में जरा भी मुश्किल नहीं होगी कि यूनिवर्सिटी के एक विद्यार्थी पर जो खर्च होता है, उसमें करीब २० से लेकर ४० तक प्राथमिक शिक्षा के बालकों को आसानी से शिक्षा दी जा सकती है।

असल सवाल

लेकिन असल सवाल यह है कि क्या जनता इस तरह अपने शिक्षा-कोष को खर्च करने के सम्बन्ध में राय देने के

लिए तैयार हो सकती है। बहुत सम्भव तो यह है कि भारत जिस तरह के मानसिक चक्रवाल में फँसा है उसमें उसे एक धक्का सा लगे, लेकिन बहुत कुछ किया जा सकता है और एक दम ऐसा बन्दोबस्त कर दिया जाय कि नये कालेज या हाई स्कूलों की स्थापना ही न हो। लेकिन, इसको साथ-साथ ध्यान में रख कर प्रयत्न करना चाहिए कि यूनिवर्सिटी, हाई स्कूल और प्राइमरी स्कूलों में शिक्षा-व्यय का अनुपात ऐसा हो कि बड़े पैमाने पर शिक्षा-विस्तार में सहायक हो।

इसकी जरूरत भी तो है। आखिर कालेज और स्कूलों में आप कौन सी बड़े लाभ की बात पा रहे हैं? पिछले वर्षों के तजुरबे ने बता दिया है कि हमारी सरकारी नौकरियाँ और व्यापारिक क्षेत्र हमारे पढ़े-लिखे नौजवानों को खपा लेने में असमर्थ हैं। मोटे पैमाने से यही पता चलता है कि यूनिवर्सिटियों के आधे से अधिक और हाई स्कूलों के तीन-चौथाई विद्यार्थी नौकरी पाने में निराश रहते हैं। इसलिए मेरी योजना के अनुसार अगर हाई स्कूल और कालेज पाँच वर्ष के लिए बन्द कर दिये जायँ, तो कोई नुकसान हो नहीं सकता। इसके विपरीत भलाई यह होगी कि ऐसे युवकों का उत्पादन बन्द हो जायगा, जो न तो कोई उद्योग कर सकते हैं और न उनमें खेती में जुटने की हिम्मत है।

अभी तक हमने जनता को शिक्षित बनाने की दिशा में एक ही पहलू पर विचार किया है। शिक्षा के खर्चों का ठीक अनुपात इस दिशा में पहिला ठीक क़दम है, लेकिन इससे हम अधिक दूर तक नहीं पहुँच सकते। क्यों? इसलिए कि मार्च सन् १९३६,

में ८३,४६,२५७ ऐसे बच्चे थे, जो स्कूल जाने के काबिल थे और ४४,५६,४५४ स्कूलों में थे। ५० फी सदी के लिए स्कूलों का कोई बन्दोबस्त ही नहीं है। इन सब बच्चों को स्कूल प्रस्तुत करने के लिए करीब ६,४१,६१,८४४ रु० का खर्च पड़ेगा। इसका मतलब यह है कि जितना खर्च हम बच्चों की शिक्षा पर प्रतिवर्ष कर रहे हैं, उतना ही हमें शेष बच्चों के लड़कों के स्कूलों के लिये पड़ेगा और करीब इतना ही खर्च लड़कियों के स्कूल प्रस्तुत करने में पड़ेगा। इस तरह कुल १३ करोड़ रुपये की जरूरत हमारे बच्चों के लिए स्कूलों का निर्माण करने के लिए है। यह १३ करोड़ हमारे शिक्षा के खर्च का आधार है।

इसका उत्तर वही है जो वर्धा स्कीम में मिलता है और जिसे महात्मा जी ने इस प्रकार व्यक्त किया है—"शिक्षा स्वावलम्बी होनी चाहिये। मैं बच्चों की शिक्षा का प्रारम्भ उन्हें कोई दस्तकारी का काम सिखाने से करूँगा और इस तरह शिक्षा के प्रारम्भ से ही वे उत्पादन कर सकेंगे। मेरा ख्याल है कि इस तरह के शिक्षा-क्रम के आधार पर मस्तिष्क, शरीर और हृदय को स्फूर्ति प्राप्त हो कर बालक ज्यादा सीख सकते हैं। वे क्या और कैसे जान कर शिक्षा ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और इस तरह शिक्षा को स्वावलम्बी बनाया जा सकता है।"

इस योजना पर अगर काम किया जाय, तब आप देखेंगे कि कैसा परिवर्तन हो कर रहता है।

क्रान्तिकारी युग में शिक्षा का लक्ष्य और स्वरूप

[श्री० मोतीलाल राय, संस्थापक प्रवर्तक संघ]

इस पवित्र यज्ञशाला में उपस्थित होकर मैं जिस आनन्द और उत्साह का अनुभव कर रहा हूँ वह शब्दों में व्यक्त नहीं हो सकता। प्राचीन ऋषिकाल की पवित्र होम-शिखा मैं अपने नेत्रों से देख रहा हूँ। हवि की सुगन्ध से मेरा चित्त पुलकित हो रहा है। प्राचीन भारत की सुमधुर और पवित्र वेदध्वनि मेरे कानों में प्रतिध्वनित हो रही है। मैं अपने आप को कृतकृत्य समझ रहा हूँ। मालूम हो रहा है कि आज जीवन सार्थक हुआ।

काशी भारत का पुण्य तीर्थ है। यह शिवधाम भारत की सनातन संस्कृत का जन्म-स्थान है। इस पुण्य क्षेत्र में न मालूम कितने महापुरुषों को नयी नयी प्रेरणाएँ मिली हैं। शाक्यसिंह के कण्ठ की जयध्वनि पहले पहल इसी काशी क्षेत्र में उच्चरित हुई थी। आचार्य शङ्कर ने इसी स्थान में पहले पहल अद्वैत वेदान्त का विजय-सन्देह सुना था। असी-वरुणा-जाह्नवी-आलिङ्गिता इस पवित्र शिवपुरी में कितने गूँगों को भाषा मिली, मनुष्य का कितना कलुप धुल गया, इसका पता किसको है? इस महातीर्थ

श्री काशी विद्यापीठ के दशम समावर्तन-संस्कार में प्रवर्त्तक संघ के संस्थापक श्री मोतीलाल राय द्वारा किया हुआ दीक्षान्त भाषण।

में काशी विद्यापीठ की स्थापना उसकी चिरस्थायिनी महिमा का कारण होगा, इसमें सन्देह नहीं।

भारत धर्म्मप्राण है। भारत यज्ञभूमि है। भारत की रज-रज में अतीत की पवित्र स्मृति लगी हुई है। एकत्रित धर्म की मूर्ति यही भारत है। भारतवासी देवताओं की आयु पाकर आज भी जीवित हैं। 'अमृतस्य पुत्राः' यह ऋग्वेद का मंत्र इसी देश में उच्चारित हुआ था। युगधर्म से यह महाजाति आत्मविस्मृत हो गई है। पर स्मृति का लोप सदा के लिए नहीं हुआ है। अन्यथा इस काशी विद्यापीठ का अभ्युदय इस युग में दिखाई क्यों देता ? इस महापीठ की प्रतिष्ठा से आज अठारह वर्ष जो तपस्या की गयी है वह व्यर्थ नहीं हुई है। भारत के उस सुधासिक्त सनातन आत्मज्ञान को पुनः यहाँ लाने का यह यत्न क्या कभी व्यर्थ हो सकता है ?

भारत का धर्म

भारत का धर्म भूमाधर्म है—सार्वजनीन धर्म है। भारत के धर्म का लक्ष्य है आत्मा का अभ्युदय और निःश्रेयस। यह धर्म न क्लीव का हो सकता है, न पंगु का।

धर्म अमृत स्वरूप है। जिस शिक्षा से इस धर्म की प्राप्ति होती है वही अमृत की—आत्मा की तपस्या है। आत्मा के अभ्युत्थान का लक्ष्य केवल पारलौकिक है, इस भ्रम से अन्ध होकर अर्वाचीन युग के शिक्षाभिमानियों का एक दल धर्म को ही राष्ट्रीय मुक्ति और प्रगति के लिए बाधक समझता है। सर्वथा

जड़वादी शिक्षा से अभिभूत होकर वे धर्म की आवश्यकता को ही अस्वीकार करने लगे हैं। धर्म की नींव पर ही यह राष्ट्र खड़ा किया गया है। इस आदर्श को स्वप्न और कल्पना कह कर उड़ा देने का यत्न किया जा रहा है। वे जानते नहीं कि भारत का धर्म जड़ को केवल जड़ समझने की शिक्षा नहीं देता। क्षर के पीछे अक्षर ब्रह्म की उपलब्धि करके क्षर-अक्षर के समन्वय-क्षेत्र में पुरुषोत्तम तत्व के उत्तम रहस्य का ज्ञान इसी जाति को हुआ है। हमारी शिक्षा का लक्ष्य आत्मज्ञान अवश्य है पर उसने विज्ञान को भी अपने साथ कर लिया है और उच्च कण्ठ से घोषणा की है—'यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते' अर्थात् जिसे जान लेने पर जानने को और कुछ बाकी नहीं रह जाता, उसको जानना ही इस जाति की ज्ञान-विज्ञानमयी शिक्षा है। पारलौकिक जीवन ही यदि जाति का सर्वस्व होता तो अष्टादश विद्या में आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थशास्त्र का समावेश क्यों किया जाता?

भारतीय शिक्षा

भारतीय शिक्षा का युगपत् लक्ष्य ऐहिक और पारत्रिक है। दोनों जीवन के ही श्रेय के साधन हैं। इसलिए इस जाति का अभ्युत्थान और मुक्ति धर्ममूलक राष्ट्रीय शिक्षा के द्वारा ही सिद्ध होगी।

अधिकतर स्पष्ट शब्दों में कहा जा सकता है कि जिस शिक्षा से आत्मा का अभ्युदय, जिस शिक्षा से राष्ट्र का नित्यमुक्त देव

स्वभाव बनता है वही शिक्षा भारतीय शिक्षा है। समस्त बहिर्ज्ञान इस अन्तर्ज्ञान के ही पेट में है। इसी से वह मौलिक शिक्षा भारत के दर्शनों में और काव्य में, यहाँ तक कि शिल्प और विज्ञान में भी अनायास संचारित हो पायी है। यह देश केवल श्रुति, स्मृति और न्याय का ही देश नहीं है। यह पदार्थ-विद्या-विशारद कणाद का भी जन्म-क्षेत्र है। नागार्जुन के भी बहुत पहले के असंख्य भारतीय रासायनिकों के नाम आज मिलते हैं। इसके सिवा छान्दोग्य उपनिषद् के नारद-सनत्कुमार के संवाद से हमें मालूम होता है कि दैव या आवह-विज्ञान, निधि या धनविद्या, देवविद्या या भूकम्पादि उत्पात सम्बन्धी विद्या, भूतविद्या या प्राणिविज्ञान, क्षत्रविद्या या रणशास्त्र, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या आदि का अनुशीलन किसी सुदूर अतीत में प्रारम्भ हुआ था। केवल प्राणिविज्ञान के क्षेत्र में शालिहोत्र, पालकपीय, जयदत्त, नकुल, दातव्य आदि विद्वान् ग्रन्थकर्ता तथा उनके और अन्यान्य लेखकों के रचित गजायुर्वेद, अश्व-गवायुर्वेद, मृग-पक्षीशास्त्र, सैनिकशास्त्र इत्यादि नाम के प्रायः २४ ग्रन्थों के नामों का अनुसन्धान से पता लगा है।

यहाँ यह पूछा जा सकता है कि क्या हमें कैण्ट, हीगेल, हर्बर्ट स्पेन्सर, कोमत् आदि के पाश्चात्य दर्शनों अथवा न्यूटन, केलविन, फैराडे आदि प्रमुख पाश्चात्य वैज्ञानिकों के विज्ञान-विषयक ग्रन्थों का त्याग करना चाहिये? क्या कार्ल मार्क्स का नव समाज-शास्त्र हमें न पढ़ना चाहिये? नहीं, मेरे कथन का यह तात्पर्य नहीं है। मैं यह कहना चाहता हूँ कि हमें यदि पाश्चात्य ज्ञान-

विज्ञान का ग्रहण करना ही है तो उसके पहले भारतीय मौलिक शिक्षा के वीर्य्य से हमें अपना मस्तिष्क सबल और सुगठित कर लेना चाहिये। भारत का शिक्षावीर्य पूर्णांग करने की जो बिपरीत चेष्टा की जा रही है उसका त्याग करना चाहिये। जिस वीर्य्य का आश्रय करना है उसे अपूर्ण समझने से उसपर श्रद्धा नहीं रहती और श्रद्धावान् हुए बिना राष्ट्रीय शिक्षा से ज्ञान-सिद्धि और कर्म-सिद्धि नहीं हो सकती। भारत के स्वातंत्र्य की रक्षा करने से कोई यह न समझे कि मैं अपने राष्ट्रीय जीवन को और साधना को निखिल मानवता से पृथक् संकुचित रखना चाहता हूँ। भारत के वेद-दर्शनों की युक्ति और तत्त्वानुभूति यदि वस्तुतः सत्य हो तो मानव सत्ता के हित के लिए ही इस सत्य को हिमाचल की तरह स्थिर रखना पड़ेगा। यह आत्माहंकार भी नहीं है और संकीर्णता भी नहीं है। पूर्ण मानव-सिद्धि का तीर्थ है भारतवर्ष। संसार की सब जातियाँ इस महान् तीर्थ में आकर सिर झुकायेंगी। स्वार्थ, दम्भ, अत्याचार, अनाचार से जो अशान्ति और क्षोभ समस्त जगत् में हो रहा है, उसका शान्तिमन्त्र भारत के ही हृदय के भीतर निहित है। मस्तक में आग लगने से जलाशय की ही खोज करनी पड़ती है। आज भारतवासी को आत्मजय के लिए एकनिष्ठ होना चाहिये। उसकी साधना का क्षेत्र है भारती का मन्दिर। हर देश में यह मन्दिर स्नातक ही बनाते हैं।

समाज का वैषम्य

अनेक दिनों की उदासीनता से यह जाति आज गिर गयी

है। इसके पुनरुत्थान और दुर्दशा-मोचन के लिए उद्बुद्ध दृष्टि में सर्वप्रथम समाज और व्यवहारिक जीवन का असंगत वैषम्य ही आवे, यह आश्चर्य की बात नहीं है। इसीसे राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त करने की चेष्टा के साथ साथ समाजतंत्र के स्वप्न, धन-साम्यवाद की चिन्ता और चेष्टा धीरे धीरे दिखाई देने लगी है। यहाँ भी हमें अपने आदर्श की रक्षा करनी होगी। साम्य भी भारत का ही सिद्ध मंत्र है। मनु, श्वेतकेतु, याज्ञवल्क्य उन उन युगों की दृष्टि से इस मन्त्र की व्याख्या और तदनुयायी समाज-व्यवस्था कर गये हैं। हर युग में साम्य के लिए चेष्टा की जाती रही है। हम श्रीकृष्ण को भारत के प्रकृष्ट साम्यवादी लोक-नेता कह सकते हैं। श्रीकृष्ण के मतों के आधार पर भारतीय रीति से भारत में साम्यवाद की प्रतिष्ठा की जा सके तो भारत जगत् का आदर्श हो जायगा। श्रीकृष्ण ने कहा है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

विद्या-विनय-सम्पन्न ब्राह्मण, चाण्डाल, गौ, हाथी, कुत्ता इन सब को पण्डित एक ही दृष्टि से देखते हैं। इस साम्य में जो स्थिर होते हैं उन्हें ही श्रीकृष्ण श्रेष्ठ समझते हैं। भारत में साम्य शब्द का अर्थ तुल्यत्व ही माना गया है पर उससे मनुष्य के गुण और चरित्रगत वैशिष्ट्य की हानि नहीं हुई है। बाहरी वस्तुओं पर सब का सामान अधिकार, यह साम्य का अर्थ यहाँ कभी नहीं किया गया। साम्य का व्याकरण-सिद्ध अर्थ है एक स्थानत्व। इस

साम्यवाद की स्थापना के लिए अभिनव शिक्षा और चेतना से जाति को उन्नत करना होगा। दुरवस्था का यथार्थ प्रतिकार मनुष्य की आभ्यन्तरीय उन्नति पर निर्भर है। बाहर जो वि-सदृश वैषम्यमूर्ति प्रकट हुई है वह क्या अन्तर का ही प्रतिरूप नहीं है? जाति का अन्तर हम जितना ही स्वच्छ और सुन्दर कर सकेंगे, हमारी आर्थिक अवस्था और सामाजिक व्यवहार में भी तदनुरूप श्री और प्रीति उत्पन्न होगी। इसकी भी विधि-व्यवस्था है। पाश्चात्य साम्यवाद का जब तक दिवाला न निकल जायगा तब-तक भारत का अभ्रान्त साम्यवाद निरपेक्ष बना रहेगा। पर भारतीय साम्यतत्त्व के प्रचार का दिन भी बहुत दूर नहीं है। राष्ट्रीय शिक्षा से ही हमें इसका पता लगेगा। रूपवैचित्र्य की भाँति अवस्था वैचित्र्य भी ईर्ष्या और द्वेष का कारण न होकर एक स्थानत्व के अमृतसूत्र में—परस्पर सम्बन्ध तथा सहयोगिता के बन्धन में बँध कर आत्मविकास को पूर्ण कर लेगा। यहीं श्रेणियुद्ध का हेतु ही नष्ट हो जायगा।

स्वाधीनता का आदर्श

राष्ट्रक्षेत्र में पूर्ण स्वाधीनता का महामन्त्र हम भूल नहीं सकते। पर हमारी स्वाधीनता का आदर्श केवल भौगोलिक नहीं है—इसकी भित्ति है संस्कृति। भारतीय भाव और तपस्या के द्वारा ही हम अपना राष्ट्र-तन्त्र बनावेंगे। वह राष्ट्र होगा स्वरूप का रूप—जातीय संस्कृति का ही सिद्धयन्त्र। साम्प्रदायिक भेद-बुद्धि को हम सांस्कृतिक परिचय और अन्तर-मिलन की सहायता से

दूर करेंगे। यहाँ भी जातीय शिक्षा ही मिलन-नीति का ब्रह्मास्त्र होगा। इसी से आज शिक्षा का महत्त्व इतना बढ़ गया है।

शिक्षा अर्थकरी होनी चाहिये या नहीं, इस पर भी हमारे मनीषिगण विचार कर रहे हैं। उच्च शिक्षा यदि जीवन का अभाव दूर करने में असमर्थ हो तो वैसी पंगु शिक्षा से जाति की शक्ति कभी न बढ़ेगी। भारत के वर्तमान विश्वविद्यालयों में जो शिक्षा दी जाती है उससे जीविकोपार्जन की शक्ति और कुशलता प्राप्त नहीं होती; और यदि हो भी तो उसके यथाविधि प्रयोग का क्षेत्र हमें नहीं मिलता। फलस्वरूप व्यष्टि का अभाव बढ़ कर वह दुःखितों और अभावग्रस्तों की संख्या बढ़ावेगा तथा उससे क्रान्तिकारी मनोवृत्ति अनिवार्य हो जायगी—उसकी सहायता से देश में क्रान्तिकारी आन्दोलन का बढ़ना भी असम्भव नहीं है। पर शिक्षा के इस विपरीत परिणाम को कोई शुभ नहीं समझ सकता।

राष्ट्रीय शिक्षा में आत्मज्ञान के साथ साथ कर्मकरी वृत्तियों के अनुशीलन की भी व्यवस्था होनी चाहिये। विद्यानुशीलन के क्षेत्र से इस कर्म-शिक्षा का काल और क्षेत्र जरा दूर ही रखा जाय तो अच्छा है। विद्यालय में जो गुण और शक्ति प्राप्त होती है उसकी प्रयोग-निपुणता की शिक्षा के लिए भी कुछ समय की आवश्यकता है। आज ऐसी किसी व्यवस्था की आवश्यकता है जिससे प्रत्येक विद्यार्थी को स्वावलम्बन की तपस्या से अपनी आवश्यकताओं और अभाव की पूर्ति करने की शक्ति और अवसर भी प्राप्त हो।

मैं जानता हूँ कि श्री काशी विद्यापीठ का प्रत्येक कृती पुत्र भारत के नाना कर्मक्षेत्रों में राष्ट्रीयता की जय-ध्वजा ऊँची किये हुए है और इसी से मैं आज के स्नातकों से भी कहता हूँ कि आत्मविश्वास को दृढ़ रखते हुए विजयी की भाँति कर्मक्षेत्र में प्रवेश करें। वे याद रखें कि संख्या की बहुतायत से राष्ट्र नहीं बनता; राष्ट्र की महिमा-रक्षा उसकी गुणगरिमा से होती है। स्नातक-मण्डली का आवाहन करके कहता हूँ—सामने विशाल कर्मक्षेत्र है। जो जीवन आज मिला है वह केवल व्यक्ति का नहीं है, वह है राष्ट्र का, ईश्वर का, भूमा का। समाज के विषाक्त जल-वायु में देश की अकथनीय दुर्गति हुई है, अर्थ वैषम्य की कुज्झटिका में राष्ट्र का दम घुट रहा है, पराधीनता के पीड़न से हम सब मुमूर्षु हो गये हैं। इसी जगह नवीन राष्ट्र के अग्रदूतों को आत्मशक्ति का प्रयोग करके भारत की कीर्त्ति-रक्षा करनी होगी। अन्तःसाधना में स्वयम् विजयी होकर आप लोग आज राष्ट्र के अन्तः-शोधन का नवव्रत ग्रहण करें। आज के इस समावर्तन की यज्ञाग्नि आप लोगों के हृदयों में सदा प्रज्वलित रहे। हे भारत के वर पुत्रों, हे उदीयमान तरुणों, आप लोगों के कण्ठ से कण्ठ मिला कर आज मैं भी कहता हूँ—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में त्रुटियाँ

[श्री सम्पूर्णानन्द, शिक्षा-मंत्री, संयुक्तप्रान्त]

नैनीताल में हुए स्कूल-इन्सपेक्टरों के सम्मेलन में भाषण

(१)

नैनीताल में गत २२ जून को युक्तप्रान्त के स्कूल इन्सपेक्टरों के सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए प्रान्तीय शिक्षा-मन्त्री माननीय श्री सम्पूर्णानन्दजी ने जो भाषण किया उसका सारांश नीचे दिया जाता है—

आजकल प्रान्त की शिक्षा-प्रणाली पर विचार किया जा रहा है। इस शिक्षा-प्रणाली की नींव लार्ड मेकाले ने डाली थी और इसका मुख्य उद्देश्य विद्यार्थियों को सरकारी नौकरी दिलाने में सहायता प्रदान करना था। परन्तु तब और अब की परिस्थिति में महान् अन्तर है। हमारी आवश्यकताओं के अनुसार हमारी शिक्षा के सिद्धांत में भी परिवर्तन होता रहा है। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के आलोचक कभी कभी यह सोच लेते हैं कि आजकल की शिक्षा-प्रणाली पत्थर की तरह अपरिवर्तनशील है और पिछली एक शताब्दी में इसमें कोई परिवर्तन ही नहीं हुआ है। किन्तु यह धारणा शुद्ध नहीं है। इसमें लगातार परिवर्तन होते रहे हैं और यह स्वाभाविक बात है कि हमारी आजकल की परिवर्तित परिस्थिति के अनुकूल इसमें और भी परिवर्तन हों।

श्री सम्पूर्णानन्द

बहुधा यह आक्षेप किया जाता है कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में पुस्तकों को ही अधिक प्रधानता दी गयी है, यानी जो लोग ऐसी शिक्षा प्राप्त करके पाठशालाओं से निकले हैं वे लिखने-पढ़ने के काम के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर पाते। यह भी दोषारोपण किया जाता है कि एक विदेशी भाषा द्वारा शिक्षा प्रदान किये जाने के कारण शिक्षा सरलता-पूर्वक ग्राह्य नहीं हो पाती और थोड़ी सी ज्ञान-प्राप्ति में अपेक्षाकृत अधिक समय लगाना पड़ता है। यह भी कहा जाता है कि हमारे सार्वजनिक ज्ञान की सीमा बहुत ही परिमित होती है और हमें भिन्न-भिन्न तरह की शिक्षाएँ नहीं दी जातीं।

वर्तमान शिक्षा-प्रणाली की एक और बुराई यह बतायी जाती है कि यह हमें जीवन की वास्तविकता से बहुत दूर रखती है और इसमें चरित्र के निर्माण पर बहुत ही कम ध्यान दिया जाता है। इन्स्पेक्टरों को चाहिये कि वे इन प्रश्नों पर विचार करें और अपनी बहुमूल्य सम्मति गवर्मेण्ट के सामने रखें।

हमें दो तीन बातों का ध्यान रखना है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि बच्चे क्रिया द्वारा ही अधिक सीख पाते हैं और वे ही क्रियाएं सबसे अधिक उपयोगी होती हैं जो बच्चों की भिन्न भिन्न ज्ञानेन्द्रियों में सामंजस्य उपस्थित करती हैं। इनकी सभी क्रियाएँ, चाहे वे खेल के ही रूप में क्यों न हों, इनके भावी जीवन में सहायता प्रदान करती हैं। अतएव शिल्प (जीविका) सम्बन्धी शिक्षा देते समय हमें इस मनोवैज्ञानिक सत्य का पूरा पूरा ध्यान रखना चाहिये।

साथ ही साथ मेरी समझ में यह भी आवश्यक है कि स्वच्छ ज्ञान की प्राप्ति पर अधिक बल दिया जाय। इस बात की बहुत बड़ी आशंका है कि शिल्प-शिक्षा में ज्ञान-प्राप्ति का ध्यान ही भूल जाय। हमें इस बात के लिये सतर्क रहना है कि जो विद्यार्थी हमारी शिक्षा-संस्थाओं से निकलें वे श्रम की मर्यादा को समझ सकें, उनका शरीर स्वस्थ हो, उनका मस्तिष्क नूतन ज्ञान को ग्रहण कर सके तथा वे उच्च शिक्षा से लाभ उठा सकें। अतएव हमारे लिये युनिवर्सिटी-शिक्षा के मान को कम करना सम्भव नहीं होगा।

तीसरा सवाल शारीरिक शिक्षा का है। मेरी समझ में हमें सबसे ज्यादा इस बात का ध्यान रखना है कि हम जो शारीरिक शिक्षा प्रदान करें वह विद्यार्थियों को स्वावलम्बी बना सके, उनमें स्वयं अपनी रक्षा करने की सामर्थ्य उत्पन्न कर सके। आत्मरक्षा ही शारीरिक शिक्षा का मुख्य उद्देश्य होना चाहिये।

मैं यह भी चाहता हूँ कि हम कोई ऐसी युक्ति निकाल सकें जिससे हमारे विद्यार्थी अपने शरीर को पवित्र वस्तु मानकर उसका दुरुपयोग न करने में समर्थ हों। हमें इस बात की शिकायत बार-बार सुनने में आती है कि स्कूलों में कामुकता का दूषण बढ़ रहा है, और ऐसी-ऐसी घटनाएँ बहुधा शिक्षकों की जानकारी में और उनकी सहायता से घटती हैं। हमारा आवश्यक कर्तव्य है कि हम ऐसी निषिद्ध घटनाओं को शीघ्र से शीघ्र रोकें। इसी सम्बन्ध में हमें यह भी सोचना चाहिये कि ऊँची कक्षाओं के विद्यार्थियों को कामशास्त्र का थोड़ा बहुत ज्ञान कराना उचित होगा अथवा नहीं। जिन दिनों मैं बीकानेर में हेडमास्टर था, मैंने इसका प्रयोग

किया था और मैं नवीं और दसवीं कक्षाओं के विद्यार्थियों के बीच इस सम्बन्ध में व्याख्यान दिया करता था। मुझे विश्वास है कि मुझे इसमें बड़ी सफलता मिली थी।

डाक्टरी परीक्षा का प्रश्न भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है और हमें ऐसी चेष्टा करनी चाहिये कि हमारे विद्यार्थियों की सालभर में एक या दो बार डाक्टरी परीक्षा अवश्य हुआ करे।

जहाँ तक चरित्र-शिक्षा का प्रश्न है हमारी सबसे बड़ी त्रुटि नियमितता का अभाव है। जिस समय कोई खाना खाता है, उसी समय दूसरा व्यक्ति दफ्तर में काम करता है और तीसरा व्यक्ति टहलने निकलता है। शायद यह सुनने में बड़ा भला मालूम होता है परन्तु जरा सोचिये तो इससे राष्ट्रीय शक्ति और समय का कितना अपव्यय होता है। हमारे लिये यह बहुत ही आवश्यक है कि हम अपने विद्यार्थियों में निश्चित समय पर काम करने का अभ्यास डालें।

स्कूलों के नियन्त्रण का प्रश्न भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। हमें अक्सर ये शिकायतें सुननी पड़ती हैं कि डिस्ट्रिक्टबोर्ड के अध्यापकों से ऐसे काम कराये जाते हैं जो किसी तरह भी उचित नहीं कहे जा सकते और उन्हें इन कामों के न करने पर दण्ड भी दिया जाता है। हमें इन बुराइयों को रोकने का प्रयत्न करना है, परन्तु साथ ही हमें बोर्डों और जनता के उत्साह तथा सूत्रपात को कम नहीं करना है। अतएव हमें एक ऐसी योजना बनानी है जिसमें इन दोषों का निराकरण हो और साथ ही साथ प्रजातन्त्र भावनाओं का भी समावेश हो।

हमारे सामने माध्यमिक स्कूलों के नियन्त्रण का भी प्रश्न है। मैं जानता हूँ कि गैर सरकारी स्कूलों के अध्यापक सुखी नहीं हैं। अतएव हमें इस बात का ध्यान रखना है कि जहाँ एक ओर प्राइवेट व्यक्तियों के सूत्रपात की भावना को अधिक से अधिक बढ़ावें वहाँ दूसरी ओर प्राइवेट स्कूलों के शिक्षकों की दशा सुधारने की भी चेष्टा करें।

एक दो बातें और हैं। अब तक स्कूल विद्यार्थियों और शिक्षकों की ही सम्पत्ति समझे जाते हैं, लेकिन हमें इस बात की चेष्टा करनी है कि स्कूल दूसरे तरह के कामों के भी केन्द्र बनें। उदाहरणार्थ, हम इन स्कूलों से ग्राम-सुधार के काम में सहायता ले सकते हैं। प्रान्त के भिन्न-भिन्न स्थानों में पञ्चायत घर बनवाने की चेष्टा की जा रही है। जब तक ये घर न बन सकें तब तक कोई कारण नहीं कि हम स्कूलों के खाली कमरों का उपयोग न कर सकें। स्कूलों को ग्रामवासियों के मनोविनोद का केन्द्र बनाना चाहिये। अगर लोग आकर उसका उपयोग करना चाहें तो हमें उन्हें ऐसा करने से रोकना नहीं चाहिये। सच पूछिये तो हमें चाहिये कि हम उन्हें स्कूलों में खुद बुलावें और उनसे कहें कि वे स्कूलों को अपनी ही वस्तु समझें।

आप जानते हैं, मैं खुद क्या करता हूँ? मैं जब कभी दौरे पर जाता हूँ तो डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट, डिप्टी कलक्टर, चेयरमैन डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, तहसीलदार और रईसों से तो मिलता ही हूँ, साथ ही अध्यापकों से मिलना कभी नहीं भूलता। हमारा यह कर्तव्य है कि हम स्कूल के शिक्षकों को एक निश्चित मान और

मर्यादा प्रदान करें। साथ ही साथ इतना अवश्य ध्यान रखें कि ये शिक्षक मान-मर्यादा के योग्य हों।

बालिगों को शिक्षित बनाना भी हमारा एक आवश्यक कर्तव्य है। इस काम के लिये आन्दोलन प्रारम्भ किया गया है और हम चाहते हैं कि इसमें डिस्ट्रिक्ट बोर्ड स्कूलों के अध्यापकों से सहायता लें। इस काम के लिये सभी अध्यापकों को आर्थिक पुरस्कार देना तो सम्भव न होगा लेकिन इस बात का ध्यान अवश्य रखा जायगा कि जो शिक्षक इस कार्य में उत्साह दिखलावेंगे उन्हें किसी न किसी तरह पुरस्कृत अवश्य किया जाय। कुछ अखबारों में चिट्ठियाँ छपी हैं कि डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के अध्यापकों पर अतिरिक्त कार्य का मुफ्त बोझ डाल कर उन पर अन्याय किया जा रहा है। हम किसी पर जबर्दस्ती करना नहीं चाहते। जो लोग काम करना नहीं चाहते वे न करें। किसी से जबरदस्ती नहीं है। इसी सिलसिले में मैं स्कूली अध्यापकों के सम्बन्ध में भी कुछ कहना चाहता हूँ। कहीं कहीं इन अध्यापकों से बड़ा बुरा व्यवहार किया जाता है। एग्जीक्यूटिव का छोटे से छोटा आदमी अपने को इनसे उच्च समझता है। यह बात नहीं रहनी चाहिये। यह इंस्पेक्टरों के हाथ में है कि वे अपने अधीन काम करने वाले शिक्षकों की मर्यादा को बढ़ावें। आप यह सब काम इसलिए नहीं करेंगे कि जिन लोगों के हाथ में आजकल प्रान्त का शासन है उनकी नीति का पालन करना आपके लिये अनिवार्य है, बल्कि इसलिये कि यह आपका अपना काम है और आपको अपने राष्ट्र का स्वयं निर्माण करना है।

यद्यपि शिक्षा में साम्प्रदायिकता की कोई भी भावना नहीं होनी चाहिये, फिर भी सभी श्रेणियों के व्यक्तियों को अधिक से अधिक सुविधा पहुँचाने की चेष्टा करनी चाहिये।

मैं अनुभव करता हूँ कि विद्यार्थियों को भारतीय इतिहास इस पहलू से नहीं पढ़ाया जाता कि उससे उनमें भारतीय होने का अभिमान उत्पन्न हो तथा वे अपने को एक महान् राष्ट्र का अंग मानें। लोगों में कुछ ऐसी धारणा बँधी हुई है, ;मानो भारत पराधीनता सहन करने के लिये ही है और सभी विदेशीय व्यक्ति इसे अपना गुलाम बना रख सकते हैं। यह बहुत ही भ्रमपूर्ण भावना है और हमें इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि हमारे विद्यार्थियों में ऐसी भावना न घुसने पावे।

मुझे आशा है कि हम अगले जुलाई से अपने स्कूलों में नया जीवन देखेंगे। मैं चाहता हूँ कि लोग यह अनुभव करने लगें कि हम अपने को आधुनिक परिस्थिति के अनुकूल बना रहे हैं और हमारे स्कूलों में अनुशासन की शिथिलता नहीं है।

श्री सम्पूर्णानन्द

(२)

फासिज्म और समाजवाद

समाजवाद और फासिज्म

इधर कुछ दिनों से यूरोप में समाजवाद (साम्यवाद या Socialism) के साथ ही फासिज्म का प्रचार बढ़ रहा है। समाजवादी राज्य तो एक रूस ही है, पर फासिज्म के सिद्धान्त के अनुसार—यद्यपि सिद्धान्त के स्थान पर पद्धति कहना अधिक उचित होगा, क्योंकि फासिज्म का कोई सिद्धान्त, कोई दार्शनिक आधार नहीं है—चालित होने वाले इटली और जर्मनी दो राज्य वर्तमान हैं। आस्ट्रिया का शासन भी उसी ढंग का है और ब्रिटेन में नेशनलिस्ट सरकार तथा अमरीका में रूजवेल्ट भी देश-पात्र के अनुसार उसी ओर झुक रहे हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि फासिज्म इस समय अधिक जोर पकड़ रहा है। यह स्वाभाविक भी है। वस्तुतः समाजवाद ने ही फासिज्म को जन्म दिया है। समाजवाद के आचार्य कार्ल मार्क्स ने जर्मन दार्शनिक हीगेल के 'डायलेक्टिकल मेथड' को मान लिया है। हीगेल की अन्य बातों को न मानते हुए भी उन्होंने यह स्वीकार कर लिया है कि इस जगत् का विकास 'डायलेक्टिकल' विधि से होता है। यह सिद्धान्त यों समझ में आ सकता है। साधारण तर्कशास्त्र के अनुसार तो दो विरोधी वस्तुयें एक साथ नहीं रह

सकतीं। प्रकाश और अप्रकाश का कोई मेल नहीं है। पर जगत् में—जीवित विकासमान जगत् में—दूसरी ही बात है। जो वस्तु किसी क्षण-विशेष में होती है, वह अपनी विरोधी वस्तु को जन्म देती है या व्यक्त करती है। दूसरे क्षण में यह विरोधी वस्तु प्रधान हो जाती है और पहली वस्तु तिरोहित हो जाती है। और तीसरे क्षण में इन दोनों विरोधियों के संयोग से एक तीसरी ही वस्तु बन जाती है, जिसमें इन दोनों का अन्तर्भाव हो जाता है। अब फिर वही क्रिया चलती है। फिर इसका विरोधी व्यक्त होता है, फिर दोनों के संयोग से नयी वस्तु बनती है। हमने 'वस्तु' शब्द का प्रयोग किया है, पर इसमें अवस्था का भी अन्तर्भाव है। यदि पहली वस्तु को 'वाद' कहें तो दूसरे को 'प्रतिवाद' और तीसरी को 'युक्तवाद' कह सकते हैं। हीगेल और उसके बाद मार्क्स ने इन्हें थीसिस, ऐण्टिथीसिस और सिनथिसिस कहा है। यदि जगत् के आदि में शुद्ध चेतन 'अहम्' की सत्ता थी तो उसने स्वयं प्रतिक्रिया-स्वरूप अचेतन 'अनहम्' सत्ता को व्यक्त किया और फिर इन दोनों के मेल से 'अहमनहम्' चेतन-अचेतन सत्ता उत्पन्न हुई। इसी प्रकार सीढ़ी-सीढ़ी उतरते-उतरते जगत् का वर्तमान रूप बना है। यह नियम अध्यात्म की ही भाँति राजनीति, धर्म और अर्थशास्त्र के क्षेत्र में भी लागू है। क्रिया से प्रतिक्रिया अवश्य उत्पन्न होती है, पर बाद में क्रिया-प्रतिक्रिया से मिलकर कोई तीसरी ही चीज उत्पन्न होती है। कुछ काल में यह तीसरी चीज अपनी प्रतिक्रिया पैदा करती है। यों ही घटना-चक्र चलता है। पुराने इतिहास में बहुत दूर

तक जाने की आवश्यकता नहीं है पर उस युग पर ध्यान दीजिये, जब वह पद्धति, जिसे पूंजीवाद कहते हैं, सर्वत्र स्थापित हो गई थी। वह युग अब भी चला नहीं गया है पर जा जरूर रहा है। धर्माचार्यों, राजपुरुषों, पत्रकारों, विद्वानों, सब ने ही इसकी प्रशंसा की थी और उस स्वार्थ और प्रतियोगिता बुद्धि को, जो इसकी तह में है, उन्नति का मूलमन्त्र ठहराया था। जिस स्वार्थ से प्रेरित होकर पूंजीपति रुपये कमाने में प्रवृत्त होता है, वह परार्थ का साधक माना गया और जिस लोभ के वशीभूत होकर मनुष्य दूसरों को हटाकर स्वयं आगे बढ़ना चाहता है, वह सभी मनुष्यों में व्यापक होने से उन्नति का ईश्वरनिर्मित सोपान (सीढ़ी) माना गया। परन्तु पूंजीवाद बहुत दिनों तक अकेला टिक नहीं सकता था। वह इस बात पर निर्भर था कि पूंजीपतियों में अनियन्त्रित प्रतियोगिता हो और श्रमिक मजदूरी लेकर मालिकों के लिये चुपचाप काम करते जायँ। यह बात चिरस्थायी नहीं रह सकती थी। इस 'वाद' का 'प्रतिवाद' भी व्यक्त होना ही था। पूंजीवाद ने स्वयं समाजवाद को जन्म दिया। इस बात को सभी समाजवादी मानते हैं कि यदि पहले पूंजीवाद न आता तो समाजवाद के लिये कोई स्थान न था। समाजवाद प्रत्येक समाज के लिये, प्रत्येक अवस्था के लिये उपयुक्त और आवश्यक नहीं है, पर समाजवाद भी डाइलेक्टिक नियम के भीतर है। समाजवाद का प्रचार होगा, पर बाद में सम्भवतः किसी ऐसे 'युक्तवाद' का प्रचार होगा जिसमें पूंजीवाद और समाजवाद दोनों का अन्तर्भाव हो जायगा। कुछ लोगों की धारणा है कि फासिज्म

ही यह अपेक्षित युक्तवाद है, वह पूंजीवाद और समाजवाद का समन्वय कराने आया है। पर यह धारणा गलत है। अभी समाजवाद का काफी प्रचार नहीं हुआ, उसने पूंजीवाद को पूर्णतया परास्त ही नहीं किया है। अतः अभी किसी युक्तवाद या किसी प्रकार के समन्वय का समय ही नहीं आया है। फासिज्म समाज-वाद के विरुद्ध अवश्य है, पर उस प्रकार नहीं जिस प्रकार कि प्रतिवाद वाद के विरुद्ध होता है। वस्तुतः फासिज्म पूंजीवाद का ही एक रूप है। पूंजीवाद ने ही समाज-वाद का मुकाबिला करने के लिये फासिज्म का रूप धारण कर लिया है। थोड़ा सा विचार करने से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है।

नाजी अपने को फासिस्ट नहीं कहना चाहते। ऐसा कहने से हिटलर को मुसोलिनी का शिष्य मानना पड़ेगा। पर दोनों विचार धाराओं के ही फलस्वरूप 'कार्पोरेट स्टेट' स्थापित हुई है। दोनों की शासन-विधि में बहुत अन्तर है, पर एक बात जो स्पष्ट और निर्विवाद है, वह यह है कि दोनों ने निजी सम्पत्ति की रक्षा का बीड़ा उठाया है। समाजवादियों के विभिन्न सम्प्रदायों में इस विषय में मतभेद हो सकता है कि व्यक्तियों के पास घर, मकान, रुपया-पैसा आदि थोड़ी बहुत निजी सम्पत्ति रहने पाये या न रहने पाये, पर इस बात में तो सभी का एक मत है कि उत्पादन, विनिमय और वितरण के मुख्य साधन—कल-कारखाने, जमींदारियाँ, खान, रेल, जहाज, बैंक—यह सब समाज की सम्पत्ति हो जायँ। इसी स्थल पर फासिज्म के सब सम्प्रदायों का मतैक्य देख पड़ता है। क्या इटली में और क्या जर्मनी में, यह

बात साफ कर दी गई है कि इस प्रकार की सम्पत्ति पूर्ववत् व्यक्तियों और कम्पनियों के ही हाथ में रहेगी। समाज की या राष्ट्र की सम्पत्ति न बनाई जायगी। इसका तात्पर्य यह है कि इन देशों के पूंजीपतियों को एक दूसरे के साथ प्रतियोगिता करने और एक दूसरे को तबाह करने, अपने देश के और दूसरे देशों के गरीबों को तबाह करने, दुर्बल देशों को गुलाम बनाने और समय समय पर पृथ्वी को रक्त-रंजित कराने का अवसर मिलता जायगा और इनके लिए धन कमानेवाले श्रमिक मजदूर के मजदूर रह जायँगे। रूस तक में, जहाँ श्रमिकों का राज है, हड़ताल करने का अधिकार है, पर जर्मनी और इटली में नहीं है, उल्टे श्रमिकों की सभी संस्थायें तोड़ दी गई हैं। समाजवाद पूर्णरूपेण लोकतन्त्रात्मक है और समाज को वर्गहीन बनाना चाहता है। यह दूसरी बात है कि उसे कुछ दिनों के लिये अहलकारी शासन कायम करना पड़ा है। इसके विरुद्ध इन देशों में वर्ग विशेष का आधिपत्य कायम रक्खा गया है और अधिनायक-तन्त्र (Dictatorship) इसका शुद्ध रूप है।

फासिस्ट सरकारें पूंजीपतियों पर भी कुछ न कुछ नियन्त्रण करती हैं। मजदूर हड़ताल नहीं कर सकते, पर उनसे काम लेने के लिए कुछ नियम बनाये जाते हैं। माल कितना पैदा किया जाय, किस प्रकार बेचा जाय, इन बातों पर भी ध्यान दिया जाता है। यह सब पूंजीवाद के ही हित की बात है। पूंजीपतियों ने यह देख लिया है कि अनियन्त्रित प्रतियोगिता उनके लिए घातक है। यदि बिना सोचे-समझे सब लोग माल तैयार करते चले जायँ, तो

आपस में लड़ कर एक दूसरे को ही नष्ट कर देंगे और पूंजीवाद (पूंजीपति राज्य) का ही अन्त हो जायगा। मजदूरों को तो बोलने का अधिकार नहीं है, पर उनको आराम से रखना तो जरूरी है ही। लोग अपने घोड़ों, बैलों को कोई विशेष अधिकार नहीं देते, पर जब उनसे काम लेना है, तो कुछ शारीरिक आराम तो देते ही हैं। सरकारें भी पशुओं के साथ निर्दयता को दण्ड समझती हैं। इसी दृष्टि से इन देशों में श्रमिकों के लिए भी कुछ विधान हैं और बन रहे हैं। इस प्रकार इन देशों में जो नियन्त्रण पूंजीपतियों की गति-विधि पर हो रहा है वह पूंजीवाद की रक्षा के लिए ही है। एक देश के पूंजीपति कुछ लोभ-संवरण करके ही दूसरे देश के पूंजीपतियों से लड़ने में समर्थ हो सकते हैं। इस प्रकार की लड़ाई अवश्यम्भावी है। समाजवाद का दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय है। राष्ट्रीय समाजवाद अधूरा है। समाजवाद की सफलता इसी में है कि सब देश आपस में सहयोग करें, परन्तु पूंजीवाद की आत्मा प्रतिस्पर्धी है। यह प्रत्यक्ष है कि रूस का लक्ष्य अन्तर्राष्ट्रीय है, पर इटली और जर्मनी जैसे देश राष्ट्रवादी हैं। उनके यहाँ बच्चे-बच्चे को यह शिक्षा दी जाती है कि राष्ट्र ही सब कुछ है, अपने राष्ट्र को अन्य राष्ट्रों से ऊपर उठाओ, अन्य राष्ट्रों के हित को अपने राष्ट्र के हित का साधन बनाओ।

इन बातों से स्पष्ट है कि फासिज्म समाजवाद के विरुद्ध है। यदि उसे प्रतिक्रिया कहें, तो वह ऐसी प्रतिक्रिया या प्रतिवाद नहीं है, जिससे आगे चल कर कोई उपयोगी युक्तवाद, कोई सच्चा समन्वय निकल सकता है। वह उस पूंजीवाद का ही उग्र रूप

है, जिसके विरुद्ध प्रतिक्रिया-स्वरूप समाजवाद का जन्म हुआ है। रूस में पूंजीवाद का पूर्णरूपेण विकास नहीं हुआ था, इसलिये वह समाजवाद का खुल कर विरोध न कर सका, पर जिन देशों में पूंजीवाद विकसित रूप में है, उनमें वह अपने को तैयार कर रहा है। उसके इस सशस्त्र, सन्नद्ध रूप का ही नाम फासिज्म है।

१९१७ में पूंजीपति तैयार न थे, पर अब उनको अवसर मिल गया है। एक बार फासिज्म का बोलबाला होगा। भारत में भी वह सिर उठा रहा है। नाम को तो समाजवादी संस्थायें खुल रही हैं, पर स्वयं कांग्रेस के भीतर फासिज्म जोर पकड़ रहा है। परन्तु जिस प्रकार रात के बाद दिन आता है, उसी प्रकार उसकी प्रतिक्रिया होगी। उग्र पूंजीवाद का प्रतिवाद उग्र समाजवाद ही हो सकता है।

भारतमाता का मन्दिर*

ऐक्य का चिह्न

[डाक्टर भगवानदास]

परम ईश्वर, अल्लाहे अकबर की सृष्टि, सरिश्त जिद्दैन जौजैन से, द्वंद्व से, बनी है। इससे दुःख भी है, सुख भी है, पाप भी है, पुण्य भी है, झगड़ा भी है, मेल-मुहब्बत भी है। एक ओर आसुरी प्रकृति है, दूसरी ओर दैवी प्रकृति है; एक तरह शैतान फसाद और जंग बरता करते हैं, दूसरी तरफ फरिश्ते सल्ह और शान्ति और परस्पर-प्रीति और इश्के हकीकी बढ़ाते हैं। दोनों ही, विश्वात्मा, परमात्मा, रूहुल्-कुल रूहल रूह की मर्जी से अपना अपना काम करते हैं। सब क़ौमों, सब ज़मानों, सब धर्मों, मजहबों के, उसी एक सिरजनहार, कर्ता, धर्ता, भर्ता, अल् खालिक, अल् मालिक, अर्रज्जाक ने, अपने बनाये सभी मजहबों और क़ौमों के आदमियों को इस भारतमाता की गोद में यकजा किया है। यहाँ मुसलमान भी हैं, पारसी भी हैं, यहूदी भी हैं, ईसाई भी हैं, हिन्दू, बौद्ध, जैन, सिख भी हैं। जरूर ही उस जगत्पति की इच्छा यही होगी, कि यह सब मेरी औलाद, मेरे

* मातृ-मन्दिर की स्थापना श्री शिवप्रसाद जी गुप्त की कृति है। इस मन्दिर में प्रत्येक मजहब के लोग पवित्रता के साथ बिना रोक टोक जा सकते हैं। यह मन्दिर संसार में भ्रातृ-प्रेम स्थापित करने के लिए अद्वितीय है। —संग्रहकर्त्ता।

बन्दे, आपस में मेल मुहब्बत के साथ, इस बड़े देश में सुख से जिन्दगी बसर करें, मुझको पहिचानें, और मेरी याद करें—

राम कहो या रहीम कहो,
दोनों की ग़रज़ अल्लाह से है।
दीन कहो या धर्म कहो,
मतलब तो उसी की राह से है॥
इश्क कहो या प्रेम कहो,
मक़सद तो उसी की चाह से है।
योगी हो या सालिक हो,
मंशा तो दिले आगाह से है॥
फिर क्यों लड़ता, मूरख बन्दे,
यह तेरी ख़ाम-ख़याली है।
है पेड़ की जड़ तो एक वही,
हर मज़हब यक यक डाली है॥

लेकिन जब अल्लाह ताला, खुदाएपाक, परम पवित्र परमात्मा, जगत्पिता ने देखा, कि पिता के भय और प्रीति से मूरख लड़के आपस में लड़ना नहीं छोड़ते, तब उसने ख़याल किया कि माँ की मुहब्बत के आगे इनकी सब लड़ाइयाँ जरूर बन्द हो जायँगी। और इसलिये, अपने एक सच्चे बन्दे शिवप्रसाद को महज़ ज़रिया, निमित्तमात्र, बना कर, उसी कुल राज़, रहस्य, माया, के मालिक ने, जो सूरज चाँद को भी चलाता है, और हर एक ज़र्रा, प्रत्येक परमाणु, की भी फ़िक्र करता है, यह बैतुल-मुहब्बत तामीर कर-वाया, ताकि सब मज़हबों की यकसाँ इबादतगाह, पूजा स्थान, हो,

और भारत-माता की सब सन्तान, सब धर्मों की, यहाँ आवें, और हुब्बुल्-वतनी, स्वदेशभक्ति, जननी-जन्म-भूमि के प्रेम के जरिये से, इश्क-हकीकी, खुदा की मुहब्बत और इन्सान की मुहब्बत, भगवद्भक्ति और विश्व-जननीभक्ति, भी सीखें, हर आदमी के दिल में छिपे हुए उसी एक परमेश्वर अल्लाहो अकबर को देखें, और तमाम मजहब के उस सत्य सार को पहिचाने, और अमल में लावें, जिसको उसी परमात्मा ने, ईसा, और मुहम्मद, और वेदव्यास, सब के मुँह से इंजील और कुरान और वेदों में कहलाया है। ईसामसीह ने इंजील में कहा है,

"डू अंटु अदर्स गेज यू वुड देट दे शुड डू अंटू यू; दिस इज होल आव दे ला ऐण्ड द प्राफेट्स" यानी "दूसरों के साथ वैसा ही बर्ताव करो जैसा तुम चाहते हो कि वे तुम्हारे साथ करें। सब धर्म और सब नबियों की तालीम इतनी ही है।"

कुरान मजीद में मुहम्मद पैगम्बर ने कहा है,

"अफजलुल ईमानि उत् तोहिब्बो लिन्नसे मा तोहिब्बो ले नफसेका; व तक्रहो लहुम् मा तक्रहो लेनफ्सेका", अर्थात्, "सब से अफजल, सब से बड़ा, सब से उम्दा, मजहब यही है, कि जो अपने लिये चाहते हो वही दूसरे के लिये चाहो, और जो अपने लिये करीह, तकलीफदिह, समझते हो, उसे दूसरे के लिये भी दुखदाई जानो।"

पंचम वेद महाभारत में महर्षि वेदव्यास नारायणावतार ने कहा है—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥
यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिन्तयेत् ॥

यानी "धर्म का सर्वस्व सार सुनो, और सुनकर उसके अनुसार आचरण करो; जो काम अपने लिये दुखदाई जानते हो वह काम दूसरे के लिये न करो; और जो जो अपने लिये चाहते हो वही दूसरे के लिये चाहो"। "द होल आव द ला ऐण्ड द प्राफेट्स" के 'धर्म सर्वस्व के', 'अफ़जलुल ईमान' के, यह सब शब्द भारत-माता के मन्दिर की दीवारों पर लिख दिये जायँगे; ताकि भारत-माता की सब सन्तान इनको पढ़ें और इन पर अमल करें, और माता की गोद में बैठकर एक दूसरे से मुहब्बत करें।

कुरान शरीफ में कहा है, "अल जन्नतो तहता कदम इल उम्म" अर्थात् "माँ के पैर के नीचे बहिश्त, स्वर्ग, फैला हुआ है"। जहाँ मुहब्बत है वहीं बहिश्त है, जहाँ दुश्मनी है वहीं नरक है, जहन्नुम है; माँ के पास मुहब्बत और स्वर्ग ही है। भगवान् मनु ने कहा है, 'सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते' यानी गुरुता में माँ का दरजा वालिद से हजार गुना ऊँचा है।

खान अब्दुल गफ्फार खाँ से भी यह दर्खास्त करता हूँ कि वे भी इस मौके पर चंद कलमे कहें, और महात्माजी से, मन्दिर खोलने की, हम लोगों की प्रार्थना में शरीक हों।

खाँ अब्दुल गफ्फार खाँ

पुराने जमाने का मजहब आजकल के लोग बिलकुल भूल गये हैं। जो असली मजहब है वह तो किताब में है। उसे तो

कोई देखता ही नहीं। पहले किसी जमाने में मसजिद में सब मजहबवालों को जाने की इजाजत थी। मदीने में जो मसजिद है उसमें पहले मुसलमान भी नमाज पढ़ते थे और ईसाई भी प्रार्थना करते थे। बदकिस्मती से वह दिन आज नहीं रहा। आज क्या से क्या हो गया है। लोग पुराने जमाने के मजहब को भूल गये हैं। खुशी की बात तो यह है कि भाई शिवप्रसादजी ने खुदा का घर सब के लिये कायम कर दिया है। उन्होंने हिन्दू, मुसलमान, सिख, इसाई वगैरह पर दया करके उस भूले हुए सबक को फिर याद दिला दिया है। इसके लिये मैं उनका शुक्रगुजार हूँ। जो मन्दिर है वही गुरु द्वारा, मसजिद और गिरजाघर है। खुदा उनका मकसद पूरा करे।

महात्मा गांधी का भाषण

महात्मा गांधी ने अपने भाषण में कहा—भाई शिवप्रसाद, भाइयो और बहनो, मैं आपसे क्या कहूँ, मैं सेगांव छोड़कर कहीं जाना नहीं चाहता था मगर प्रेम इन्सान को कहीं से कहीं ले जाता है। गुजराती में एक भजन है जो शायद मीराबाई का है। उस भजन में प्रेम का मुकाबला सूत के कच्चे धागे से किया है। सूत का कच्चा धागा टूट जाता है, प्रेम का सच्चा धागा नहीं टूटता, मैं सेगांव में दो मरीजों की सेवा में मशगूल था। प्रेम मुझे यहाँ खींच लाया। मैं अपने को इस काम के योग्य नहीं समझता। जब से शिवप्रसादजी से मेरा परिचय है, मैं जानता हूँ कि वे गंगा तट पर रहते हैं। उसका जल पीते हैं। मगर आज

ही उनके पास दूसरी गंगा भी है। वह उनकी भावना और कल्पना की गंगा है। उसमें वे अपनी आत्मा की शुद्धि करते हैं। उन्होंने भावनाओं और कल्पनाओं के घोड़े भी बना लिये हैं। उनकी कल्पनाओं के घोड़ों को रोकनेवाली कोई ताकत नहीं है। उनसे वह पृथ्वी प्रदक्षिणा तो कर ही लेते हैं, आकाश में भी घूम आते हैं। उन्होंने सोचा कि इस भावना को मूर्तिमंत करना चाहिये। एक जगह भारत-भूमि का मिट्टी का नकशा देखा। उन्होंने कल्पना के घोड़ों को रोक दिया और भारत के नकशे का चित्र स्थापित कर दिया। जैसी उनकी भावना थी वैसे ही अच्छे कलाकार मिल गये। उन्होंने शिल्पकारों को तालीम दी। यह मन्दिर बना। इसमें देवी की मूर्ति नहीं है। भारत-माता का नकशा है। ईश्वर ने उनको नया जीवन प्रदान किया। उनकी कल्पना प्रतिमा के रूप में हमारे पास मौजूद रहेगी। आज प्रातःकाल जब यहाँ वेदमन्त्र पढ़े जाते थे तब मैं यहाँ आया क्योंकि पूर्णाहुति भी मेरे ही हाथों से करवाना था। यहाँ मैंने एकाएक वह श्लोक सुना जिसे मैं करीब ३० वर्ष से पढ़ता हूँ। वह श्लोक भारत-माता के लिये नहीं बल्कि धरती-माता के लिये है। उसमें भूमि को विष्णुपत्नी कहा है। उसका बक्ष अनुग्रह है। उसकी पीठ पर हम बैठ जाते हैं। उसमें कहा है कि हे देवि! पैरों के स्पर्श के लिये तुम क्षमा करो। उसकी छाती बड़े बड़े पहाड़ हैं। यहाँ भारत-माता या भारत देश का नकशा बनाकर छोड़ दिया है। हम भी इसी भावना से मन्दिर में प्रवेश करेंगे कि सचमुच यह हमारी माता है। हमारी अपनी माता तो आज रहेगी कल

चली जायगी। मगर भूमाता नहीं जायगी। अगर जायगी तो हम सबको गोद में लेती जायगी। वह तब जायगी जब गंगा जायगी।

यह मन्दिर सबके लिये है, इसमें सबको आना चाहिये। शर्त यही है कि देश के लिये मुहब्बत हो। जिसके दिल में हमारे देश के लिये कुछ भी मुहब्बत है वह आवे। इसमें यह भाव नहीं है कि दूसरी जाति या देश के लोग न जा सकें। ऐसी भावना से भरा हुआ यह मंदिर है। तब मैं योग्य होऊँ या न होऊँ, इसे क्यों न खोलूं।

कांग्रेस और मुसलमान

[श्री श्रीप्रकाश, एम० एल० ए० सेन्ट्रल]

कांग्रेस की तरफ से बहुत वृहत् रूप में यह प्रयत्न हो रहा है कि मुसलमान लोग कांग्रेस-जन बनें। मुसलिम जनता के साथ निकट सम्पर्क स्थापित करने का जो आन्दोलन हो रहा है, वह हमारे भविष्य के राष्ट्रीय जीवन के लिए अनिवार्य है। मैं अपने अन्य मित्रों की तरह मुस्लिम समस्या से अधिक भयभीत नहीं हूँ तथापि मैं यह आवश्यक समझता हूँ कि मुसलमान अधिकाधिक संख्या में कांग्रेस में आवें। इसके संबंध में और बातें कहने के पहले उचित प्रतीत होता है कि हम यह समझें कि यह समस्या हमारे यहाँ उत्पन्न कैसे हुई ?

भारतीय इतिहास के युग

साधारणतः भारतीय इतिहास के तीन युग माने जाते हैं— हिन्दू, मुस्लिम और ब्रिटिश। यदि हम वास्तविक रूपसे ऐतिहासिक घटनाओं की विवेचना करें तो सम्भवतः हमें यह मानना पड़ेगा कि जिस समय देशका शासन अंग्रेजों को मिला, उस समय मुस्लिम राज्य देश में प्रायः समाप्त हो चुका था और भारत का अधिकतम अंश हिन्दू हाथों में आ गया था। शायद

यह कहना अनुचित न होगा कि अंग्रेजों ने हिन्दुओं से राज्य पाया। पर साधारण दृष्टि से देखने से यह कहा जा सकता है कि मुसलमानों के बाद अंग्रेज आये।

मुस्लिम-हिन्दू-संघर्ष

मुस्लिम राज्य के अन्त और अंग्रेजी अधिकार के आरंभ के बीच के समय में जो हिन्दू शासन था वह असंघटित और अनिश्चित सा था। चारों तरफ युद्ध हो रहे थे और उपयुक्त प्रकार से सुदृढ़ होने का पर्याप्त समय भी नहीं मिला था। साथ ही मुसलमानों का अवश्य यह ख्याल है कि अंग्रेजों को अधिकार हमसे मिला। हिन्दू-परम्परा भी उस समय की अनिश्चित सी है। किसी हिन्दू को इस समय की ऐसी स्मृतियाँ नहीं हैं जिनसे उसे गर्व हो कि हमारे पूर्व पुरुषों ने बड़े-बड़े स्थायी काम किये जैसे कि उसे उस पुरातन काल की है जिसे इतिहासज्ञ हिन्दू-युग कहते हैं। अवश्य ही उन्हें यह तो स्मृति है ही कि छोटे-छोटे कई हिन्दू राज स्थापित हुए, लगातार संघर्ष बना रहा, व्यक्तिगत वीरता, सहनशीलता और आत्मसमर्पण के उदाहरण लगातार मिलते गये। पर इससे अधिक उन्हें स्मरण नहीं है।

अंग्रेजों का भाव

अधिकार-प्राप्ति के बाद अंग्रेजों का जो भाव रहा उससे यह स्पष्ट होता है कि उनके विचार से भी उन्होंने मुसलमानों से ही राज्य पाया था, यद्यपि उन्हें सबसे भीषण युद्ध मराठों, सिखों

और नेपालियों से करना पड़ा था जो सब हिन्दू थे। उनकी प्रारम्भिक कार्य-प्रणाली भी ऐसी थी जिससे यही प्रतीत होता है कि उनके विचार में उन्हें मुसलमानों से अपनी रक्षा करना अभीष्ट है और मुसलमानों का ही हृदय उनकी अधिकार-प्राप्ति से विदीर्ण अधिक है। १८५७ की भीषण घटनाओं के बाद जब अंग्रेजों का राज्य सुसंघटित रूपसे भारत में स्थापित हुआ तो वे हिन्दुओं का पक्षपात करते थे और मुसलमानों से सतर्क रहते थे। उनके उस समय के लेखों से भी यह प्रमाणित होता है कि वे मुसलमानों से भयभीत थे।

पचास वर्षों की मनोवृत्ति

यह मनोवृत्ति प्रायः ठीक पचास वर्ष तक बनी रही। इस बीच में यद्यपि हिन्दुओं ने हर प्रकार से ब्रिटिश गवर्मेंट की सहायता की तथापि वे अपने देश की स्वतंत्रता के लिए लड़ते ही रहे और प्रचलित अवस्था से अत्यन्त असन्तुष्ट बने रहे। तब गवर्मेंट का भी रुख बदला। मुसलमानों ने भी यह अनुभव किया कि अंग्रेजों का हर प्रकार से समर्थन करने में ही हमारी सच्ची भलाई है। उन्होंने यह निर्णय किया कि यदि आवश्यकता हो तो हमें हिन्दुओं का विरोध करके भी हर तरह से गवर्मेंट का साथ देना चाहिये। उनका यह विचार हुआ कि स्वतन्त्रता का आन्दोलन प्रबल हिन्दू राष्ट्रीयता को स्थापन करने का साधन मात्र है। उन्होंने ब्रिटिश अधिकारियों को आश्वासन दिया कि हम आपके साथ हैं और हिन्दुओं से हमें कोई मतलब नहीं है।

अंग्रेज और मुसलमान

ऐसी अवस्था में अंग्रेज अर्थात् ब्रिटिश गवर्मेंट ने स्पष्ट रीति से मुसलमानों का साथ देना आरम्भ किया। यह हालत तीस वर्षों से चली आ रही है। इसका एक बहुत वीभत्स पर प्रबल उदाहरण युक्तप्रान्त के भूतपूर्व गवर्नर सर विलियम मैरिस ने दिया था जब उन्होंने अलीगढ़ मुसलिम विश्वविद्यालय के सामने भाषण करते हुए कहा था कि ईसाइयों (अंग्रेजों) और मुसलमानों का तो बड़ी भावुकता का सम्बन्ध युग-युगान्तरों से चला आ रहा है जिसका यह प्रमाण है कि हम दोनों ही 'मरियम' और 'दाउद' के नामों से सबसे अधिक प्रीति रखते हैं। वे बेचारे उस समय सैकड़ों वर्षों के लगातार जिहाद को भूल गये थे जिससे यूरोपीय इतिहास लाल रंगा हुआ है और जो ईसाई तथा मुस्लिम को बराबर पृथक करता रहा और यूरोपीय ईसाइयों का तुर्कों के साथ जो भाव रहा उसका भी उन्होंने उस समय कोई जिक्र नहीं किया। गिबन से वेल्सतक के अंग्रेज ऐतिहासिक लेखकों के वाक्य भी आपको स्मरण न आये और शेक्सपीयर, स्काट आदि के ग्रन्थ भी उस समय आपके स्मृति-पथ से दूर हो गये थे। अस्तु।

नयी राष्ट्रीयता

इतना सब होते हुए भी तथा हिन्दू मुसलमानों के परस्पर के द्वेष और शंकाओं के बने रहते हुए भी कितनों के ही मनमें यह भाव पैदा होने लगा कि सबको एक ही देश में रहना है और जब यह स्थिति अपरिहार्य है तो परस्पर शान्ति के साथ रहने में ही

सबकी भलाई है। लोग अनुभव करने लगे हैं कि किसी विदेशी शक्ति के ऊपर निर्भर करने से स्थायी लाभ नहीं हो सकता। उलटे यह सम्भावना है कि ऐसा करने से हम और भी अधिक मुसीबतों और कठिनाइयों में पड़ जायँगे।

कांग्रेस—राष्ट्रीय संस्था

सब लोग अब यह देखते हैं कि देश में एकमात्र राष्ट्रीय संस्था कांग्रेस ही है, जिसने अपनी सचाई हर प्रकार का कष्ट उठा कर प्रमाणित की है, जो सब विरोधों का सामना करके देश की स्वतन्त्रता की ध्वजा ऊपर उठाये हुए है और जो व्यवहार्य रूप और निःस्वार्थ भाव से देश की सेवा करती है। हम यह भी देखते हैं कि इस संस्था में कुछ ऐसी आकर्षक शक्तियाँ हैं कि कितने ही नर और नारी बड़े और छोटे अपना सब कुछ इसके लिये सहर्ष त्याग देने को तैयार हो जाते हैं। चाहे कोई पसन्द करे या न करे, इस परिणाम पर हम सभी पहुँच रहे हैं कि जो कोई स्थिति पैदा होगी उससे देश के लिए अधिकतर लाभ कांग्रेस ही उठा सकती है और उससे ही यह आशा की जा सकती है कि स्वतन्त्रता की लड़ाई वह जारी रखेगी और देशका मस्तक उन्नत करती रहेगी।

मुसलमानों को निमन्त्रण

यह सर्वथा उचित है कि कांग्रेस मुसलमानों को अपने बीच में लाने का यत्न करे। पुरानी बातें तो अब भूल गयीं। सामयिक समस्याओं को हल करना आवश्यक है। भविष्य की सम्भावनाओं

से सभी चिन्तित हैं। आर्थिक और नैतिक दृष्टि से देखने से भी यही मालूम पड़ता है कि सबकी भलाई साथ मिलकर काम करने में और परस्पर का प्रेम तथा सद्भाव रखने में ही है। कांग्रेस का किसी समुदाय विशेष से, सम्बन्ध नहीं है। किसी वर्ग के विशेष अधिकारों में उसे विशेष दिलचस्पी नहीं है। यदि आज हमारे देश में कोई सार्वजनिक संस्था ऐसी है जिसमें कोई भी भारतीय शुद्ध हृदय से और निःशंक होकर सम्मिलित हो सकता है तो अवश्य ही वह कांग्रेस है। ऐसी अवस्था में जो आन्दोलन आरम्भ किया गया है वह सर्वथा वाञ्छनीय है और भविष्य के लिये आशापूर्ण है।

हिन्दू-मुसलिम समस्या कैसे पैदा हुई? हिन्दू धर्म और दर्शन व्यक्तिवादी है। यद्यपि उसकी पुरातन पुस्तकों में विश्व-व्यापी बृहद् समाज-संघटन की मोटे मोटे सिद्धान्तों के आधार पर बनायी हुई योजना मिलती है, पर वास्तव में उसके वर्तमान अनुयायी व्यावहारिक जीवन में उसके अनुसार कार्य करने की चिन्ता नहीं करते और न उसे स्थायी रूपसे दृढ़ ही करते हुए देख पड़ रहे हैं। हिन्दुओं के सामाजिक जीवन के विघटित होते रहने की जो भावनाएँ सदा प्रस्तुत रहती हैं, उनसे संघटन के सब प्रस्ताव और प्रयत्न नष्ट हो जाते हैं। यही कारण है कि मौलिक चार जातियाँ अब ४००० से भी अधिक हो गयी हैं।

हिन्दुओं का आन्तरिक विघटन

हिन्दुओं की यह विशेषता है कि साथी लोग थोड़े से मत-भेद के कारण अलग हो जाते हैं। कुछ तो नयी जाति बनाकर

हिन्दू बने रहते हैं पर दूसरे दुःखी और त्रस्त हो कर या रोष में आकर अन्य सम्प्रदायों में सम्मिलित हो जाते हैं। हिन्दुओं की आज यह दशा हो गयी है कि उनके समाज में विधवा, अनाथ, दुःखी या दरिद्र के लिए कोई स्थान ही नहीं है। हम दूसरों को थोड़े में मर्माहत कर देते हैं। कोई किसी की मदद नहीं करता। ऐसी भीषण अवस्था में यह स्वाभाविक ही है कि चाहे हमारे आदर्श कुछ ही हों, करोड़ों हिन्दू मुसलमान होते जा रहे हैं।

इसलाम की विशेषता

राजा का तो आकर्षण होता ही है। राजा की सभी चीज पसन्द आती है। यदि राजा का सम्प्रदाय मुसलिम था तो अधीन लोगों के लिए उसकी तरफ सहज आकर्षण था। बड़े के बड़प्पन का कारण उसका बाहरी व्यवहार समझा जाता है और उसी की नक़ल भी हो सकती है। दूसरे, इसलाम बड़ा ही लोकतन्त्र-प्रधान सम्प्रदाय है। दरिद्रता के ही कारण से कोई उसमें दोषी नहीं समझा जाता, इसके कारण उचित सामाजिक स्थान से कोई वंचित नहीं रहता। दरिद्र और धनी एक ही दस्तरख़ान पर खाते हैं और मसजिद में प्रार्थना करते हैं। साथ ही वह बड़ा सरल सम्प्रदाय है। वह थोड़े में इहलोक और परलोक दोनों में ही बड़ी बड़ी आशा देता है। मनुष्य की प्राकृतिक कमज़ोरियों को वह फ़ौरन क्षमा कर देता है।

मुसलमान भारतीय ही हैं

अवश्य ही भारत के दस करोड़ मुसलमान बाहर के किसी

देश से नहीं आये हैं। कुछ अपवादों के अतिरिक्त सब भारत के ही हैं। बहुत थोड़े अपने को शुद्ध बाहरी रक्त के बतला सकते हैं। जो हिन्दू मुसलमान होकर अपने पुराने सम्प्रदाय का दुश्मन हो जाता है, उसपर हमें आश्चर्य न करना चाहिये। मनुष्य की प्रकृति देखते हुए यह स्वाभाविक मालूम होता है कि जिसे उसके समाज ने निकाल दिया हो, जिसका उसके भाइयों ने अपमान किया हो, वह उनसे बुरा माने। अपने सम्प्रदाय को छोड़ने वाले के लिए उसका नया सम्प्रदाय विशेष प्रिय हो जाता है, क्योंकि जब वह त्रस्त और दुःखी था तो इसने उसका स्वागत किया था, जब वह अपने समाज से बहिष्कृत था तो इसने उसे स्वीकार किया था, जब वह जन-समूहों से भरे हुए संसार में एकाकी हो गया था तो उसने इसका साथ दिया था। ऐसा सम्प्रदाय क्यों न प्रेम का भाजन हो? क्यों न नया अनुयायी अपने नये सम्प्रदाय और मित्रों की सेवा करने के लिए आतुर हो? आपत्तिकाल में जो काम आता है वही मित्र है, वही प्रिय है। जो संकट के समय अपने को छोड़ देता है वह तो घोर शत्रु हो जाता है।

मुसलिम समाज की त्रुटियाँ

साथ ही यह भी कहना ही पड़ेगा कि ऐसी स्थिति में जिन लोगों ने मुसलमानों की संख्या बढ़ायी, उनके द्वारा इस नये समाज या सम्प्रदाय को वास्तविक नैतिक, बौद्धिक या आध्यात्मिक बल नहीं मिला। यद्यपि मुसलमानों को देश में आये एक

हज़ार वर्ष से अधिक हो गया, यद्यपि कितनी ही शताब्दियों तक वे एक प्रकार से देश के राज के अनन्याधिकारी थे, तथापि वे निर्बल और दरिद्र ही रह गये। उनके दर्शन या सम्प्रदाय के मौलिक सिद्धान्तों में ही कुछ दोष होगा जिससे उनमें आत्म-संयम की मात्रा बहुत कम है। यद्यपि वे अस्थायी रूप से बड़ा ही जोश दिखलाते हैं, पर उनमें स्थायी शक्ति नहीं प्रतीत होती।

मुसलमानों की स्थिति

१९ वीं शताब्दी के अन्त में भारतीय समाज में जो मुसल-मानों का पद होना चाहिये था, वह नहीं था। आर्थिक, नैतिक, बौद्धिक किसी भी दृष्टि से देखा जाय, हिन्दुओं का ही प्राधान्य देख पड़ता है। कोई आश्चर्य नहीं कि इस अद्भुत दृश्य से विदेशी शासक भयभीत हुए। यही कारण है कि २० वीं शताब्दी के आरंभ में वे मुसलिम पक्ष के समर्थक हो गये। कृत्रिम उपायों से मुसलमानों को वे बल देने लगे। आत्मोन्नति के साधनों का विशेष प्रकार से उनके लिए प्रबंध किया गया। सार्वजनिक नौकरियों, संस्थाओं आदि में उनके लिए विशेष स्थान सुरक्षित किये गये। ऐसे प्रपंधों से, विशेष कर जब वे राज की तरफ से किये गये, अवश्य ही मुसलमानों को अपूर्व महत्व प्राप्त हुआ।

राष्ट्रीयता का प्रभाव

हिन्दुओं को इस स्थिति से बहुत बुरा लगा। मुसलमान अधिकाधिक की माँग पेश करने लगे। विदेशी राजको भी स्वाभाविक इच्छा हुई कि सिख, ईसाई आदि अन्य अल्पसंख्यक

समुदाय जाग्रत किये जायँ जिससे उसकी स्थिरता बनी रहे। बुद्धिमान मुसलमानों ने चाल समझ ली। उन्होंने यह अनुभव किया कि राष्ट्रीयता में ही उनकी सच्ची और स्थायी भलाई है। इसी समय अन्तर्राष्ट्रीय स्थितिने भी यह साबित कर दिया कि बड़े से बड़े साम्राज्य भी तो मर्त्य ही हैं। हाँ, मनुष्य-जीवन का प्रवाह अनन्त और अमर है। ऐसे मुसलमानों ने उचित समझा कि हिन्दुओं से ही मिलकर हम स्वतंत्रता के युद्ध में लग जाँय और उन्होंने अपने सहधर्मियों को भी प्रोत्साहित किया कि राष्ट्रीय आन्दोलन को अपनावें। अवश्य ही कांग्रेस ने स्थिति से पूरा लाभ उठाना अपना प्रधान कर्तव्य समझा और सब राष्ट्रीय शक्तियों को सुसंघटित करना आरंभ किया।

हिन्दुओं का कर्तव्य

ऐसी अवस्था में हिन्दुओं का विशेष कर्तव्य है। उन्हें हर प्रकार से आत्म-त्याग करना होगा जिससे सब लोग एक हो सकें। हिन्दुओं को यह न भूलना चाहिये कि उनकी संख्या २५ करोड़ है। इस संयुक्त घराने में वे बड़े भाई की तरह हैं। अगर कोई छोटा भाई जिद पकड़ ले, कहे कि मेरे हक से अधिक तुम न दोगे तो मैं बाहरियों को बुलाकर घर लुटवा दूँगा या उसमें आग लगा दूँगा, तो बड़ा भाई घर की मर्यादा बचाने के लिए छोटे भाई के सामने झुक जाता है और अपनी हानि उठाकर घर की रक्षा करता है। हिन्दुओं को कुछ ऐसे भाव में ही काम करना होगा।

श्री श्रीप्रकाश

अल्पसंख्यक समुदाय का हठ

यदि कोई अल्पसंख्यक समुदाय अपने अधिकारों से अधिक का हठ करे तो उसे सन्तुष्ट करना ही होगा। यदि छोटा बड़े से सशंक हो तो यह स्वाभाविक है। बड़े का कर्तव्य है कि उसका सन्देह दूर कर दे। इससे कोई हानि नहीं हो सकती। आगे चल कर सब ठीक हो जायगा। जब स्वतन्त्रता मिल जायगी, जब किसी बाहरी का कोई डर नहीं रह जायगा, जब किसी विदेशी शक्ति से आशा भी न रह जायगी, तब देश में बसनेवाले सब समुदाय अपने अधिकारों और कर्तव्यों को समझेंगे और तदनु-सार कार्य भी करेंगे।

हमारा तत्कालिक कर्तव्य

इस क्षण एकता और संघटन के लिए, शान्ति और सुव्यवस्था के लिए, बहुसंख्यक समुदाय को अपना सब कुछ त्याग कर देने को तैयार रहना चाहिए। यदि साथ देने का मूल्य यही माँगा जाय तो देना होगा। इसीसे कांग्रेस की भी शक्ति बढ़ सकती है। तभी कांग्रेस का अनुशासन सब मानेंगे और तभी सब की शंकाओं का समाधान और शमन होगा। क्या यह आशा की जाय कि इस बड़े काम में हम सब अपनी-अपनी शक्ति और बुद्धि के अनुसार सहायक होंगे और अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पूर्ण रूप से उद्योग करते रहेंगे?

को-आपरेटिव आन्दोलन और कांग्रेस

[*डा० पट्टाभि सीतारामैया*]

को-आपरेटिव आन्दोलन का कृषि-सुधार से गहरा सम्बन्ध है; सच पूछा जाय तो को-आपरेटिव आन्दोलन कृषि-सुधार सम्बन्धी आन्दोलन का एक आवश्यक अङ्ग है। कृषकों के कष्टों को दूर करना इसका कम-से-कम उद्देश्य है। परन्तु इसका दृष्टिकोण काफी विस्तृत होना ही चाहिये, जिससे नागरिक जीवन के विभिन्न पहलुओं पर भी यह प्रभाव डाल सके। यही कारण है कि आप इसे एकाङ्गी आन्दोलन नहीं कह सकते।

अस्तु, हमें अब कृषकों की वर्तमान अवस्था पर विचार करना चाहिये; साथ ही हमें इस पर भी गौर करना चाहिये कि हमारे सहकर्मीगण क्या करना चाहते हैं। अतएव पहले हम आप लोगों का ध्यान कांग्रेस के कृषि सम्बन्धी कार्यक्रम की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं; यह एक ऐसा कार्य-क्रम है जो पिछले प्रान्तीय निर्वाचन के अवसर पर अपना काफी प्रभाव दिखला चुका है। कांग्रेस ने जब लखनऊ अधिवेशन के मौके पर फिर से 'गरीबी, बेकारी और ग्रामीणों के ऋण-भार की समस्या' पर गौर किया, तो यह प्रकट था कि इसके प्रधान कारण हमारे यहाँ की पुरानी कृषिप्रणाली और पीस डालनेवाली लगान की प्रथा है।

पिछले वर्षों में आर्थिक मन्दी के जमाने में अनाज का भाव गिर जाने के कारण किसानों की हालत और भी बिगड़ गयी और कृषि सम्बन्धी समस्या का सुलझाना और भी कठिन हो गया। कांग्रेस के प्रस्ताव में ठीक ही कहा गया है कि इस समस्या को पूर्ण रूप से सुलझाने के लिये अन्त में कृषिप्रणाली और लगान-प्रथा में परिवर्तन तथा ब्रिटिश साम्राज्यवादी शोषण से देश को मुक्त करना आवश्यक होगा, और साथ ही यह भी जरूरी होगा कि सरकार इस बात को महसूस करे कि ग्रामों में रहनेवाले बेकारों को काम देना उसका कर्तव्य है।

किसानों की एक आम शिकायत है कि जमीन्दार और ताल्लुकेदारों के कारण उनकी हमेशा तबाही रहती है। हमारे सोशलिस्ट यह नहीं चाहते कि ऐसे कानून बनाये जायँ, जिनके कारण किसानों के अन्दर फैलनेवाली क्रान्तिकारी प्रवृत्ति पर रुकावट पहुँचे। परन्तु हमारा मन्तव्य तो वही है जो कांग्रेस का है—हम चाहते हैं कि सुदूर भविष्य में क्रान्तिकारी परिवर्तन की प्रतीक्षा करने के बजाय, जब कि प्राइवेट सम्पत्ति का नामो-निशान मिट जायगा, किसानों को जल्दी से जल्दी सहायता पहुँचा कर उनके कष्टों को यथासम्भव दूर करने की कोशिश की जाय।

किसानों तथा छोटे-छोटे जमीन्दारों की दूसरी सब से बड़ी समस्या है उनकी ऋण-समस्या। इस सम्बन्ध में कांग्रेस ने जो सिफारिश की है वह नितान्त न्यायपूर्ण है। कांग्रेस ने कर्ज के अतिरिक्त बाकी लगान और मालगुजारी के सम्बन्ध में भी सिफारिश की है। आज हम लोगों को यह कहते सुनते हैं कि

कर्जपर नियन्त्रण रहना चाहिये, असल कर्ज से दुगुने से ज्यादा वसूल करने का अधिकार महाजनों को हरगिज न दिया जाय और पहले के कर्ज की अदायगी के लिये महाजनों को मजबूर किया जाय कि रुपये में आठ आने लेकर ही वे सन्तोष कर लें। परन्तु इस बात की ओर किसी का ध्यान ही नहीं जाता कि आखिर इतने रुपये चुकाने के लिये भी किसानों के पास साधन क्या हैं; कोई ऐसा जरिया तो जरूर होना चाहिये, जिससे वे कर्ज चुकाने में समर्थ हो सकें।

किसानों की दयनीय दशा

किसानों के कष्ट का एकमात्र कारण यही नहीं है; उनकी जमीन में पैदावार इतनी नहीं होती कि सब खर्च काट कर उन्हें काफी लाभ हो। आज वे तरह-तरह के अबवाब के भारसे दबे जा रहे हैं और जहाँ जमीन्दारी-प्रथा प्रचलित है वहाँ तो बेगारी की प्रथा भी आज किसी-न-किसी रूप में मौजूद है। ये सारी बातें ऐसी हैं जिनको दूर करने के लिये तुरन्त ध्यान दिया जाना चाहिये। लगान और मालगुजारी वसूल करने में जैसे जोर-जुल्म से काम लिया जाता है वह किसी से छिपा नहीं है। लोगों को स्मरण होगा कि सन् १९१७ ई० में जब गांधी जी ने चम्पारन में नील की खेती करनेवाले किसानों के कष्टों की जाँच की थी, तो पता चला था कि निलहे साहबों की ओर से किसानों से ६४ किस्म के गैरकानूनी अबवाब वसूल किये जाते थे! जिन स्थानों में रैयतवारी प्रथा प्रचलित है वहाँ के किसानों की हालत भी कुछ

अच्छी नहीं है। इन स्थानों में हर तीस साल पर फिर से जमीन का बन्दोबस्त हुआ करता है और टैक्सों का बोझ प्रायः पौने उन्नीस प्रतिशत बढ़ जाता है। बीच में होनेवाले इजाफा और दूसरे किस्म के लगान की चर्चा करने की आवश्यकता नहीं; पर इतना तो स्पष्ट है कि किसानों पर टैक्सों का बोझ असह्य हो रहा है और इसमें शीघ्रातिशीघ्र कमी होने की नितान्त आवश्यकता है। उधर जंगल-कानून और नमक-कानून ने देश के गरीबों की हालत और भी बदतर बना डाली है। प्रकृति देवी ने उन पर कृपा करके उन्हें जो अपना प्रसाद दिया है, उनसे बेचारे गरीबों को वंचित कर दिया गया है। जंगल-कानून के कारण मवेशियों के चारागाह की सहूलियत नहीं हो पाती और लकड़ी भी महँगी मिलती है। नमक कानून ने मछली मारने के व्यवसाय को भी चौपट कर दिया और मनुष्य तथा पशु दोनों को स्वास्थ्यहीन बना डाला है।

कांग्रेस का कार्यक्रम

दो बातें और रह जाती हैं, जिनके लिये सरकार जिम्मेदार है। पहली बात यह है कि सरकारी बजट में ग्राम-सुधार के लिये जितनी रकम खर्च किये जाने की व्यवस्था रहनी चाहिये, वह नहीं रहती। ग्रामीणों की सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक उन्नति के लिये जितनी रकम की व्यवस्था न्यायतः रहनी चाहिये, वह यदि रहती तो आज यह शिकायत न होती कि हमारे यहाँ सड़क, अस्पताल और स्कूल नहीं हैं। इनके अलावा लाइब्रेरी,

खेलने के लिये मैदान, बैंक, इन्स्योरेन्स आदि की सुविधाएँ भी आवश्यक हैं। दूसरी बात यह है कि किसानों को पाश्चात्य सभ्यता के आक्रमण से भी भारी क्षति पहुँची है। मशीनों के आविष्कार ने भारतीय गृह-शिल्प का नाश कर दिया, जिससे हमारे ग्रामीण शिल्पी अपने व्यवसाय को छोड़ खेती की शरण लेने के लिये मजबूर हो गये और इस प्रकार जमीन पर उत्तरोत्तर भार बढ़ता गया और आर्थिक दृष्टि से कृषि घाटे का व्यवसाय हो गयी।

अतएव कांग्रेस ने इन बातों को ध्यान में रख कर ही अपनी कृषि-योजना तैयार की है, जिसमें एक ओर इस बात पर जोर दिया गया है कि किसानों की आर्थिक स्थिति सुधारी जाय, जिससे वे अपने पैरों पर खड़े हो सकें और निर्भीकता पूर्वक वे अपने नागरिक अधिकारों का उपयोग करना सीखें। जिस गरीब किसान के पेट में भूख की ज्वाला उठ रही है वह निस्सन्देह पहले रोटी की बातें करना पसन्द करेगा और बाद में वोट की। बेचारा ऋणग्रस्त किसान या तो अपने जमीन्दार के हाथ का खिलौना बना रहता है या अपने महाजन के हाथ का। जिस गरीब किसान पर दिन-रात जुल्म होते रहते हैं, जिस पर तरह-तरह के कानूनी और गैरकानूनी टैक्सों के बोझ लदे रहते हैं उसे भला सत्याग्रह और स्वराज्य की बातें करने का धैर्य कहाँ—और सत्याग्रह एवं स्वराज्य की लड़ाई के दौरान में आनेवाली मुसीबतों के पहाड़ का सामना करने की उसमें ताकत कहाँ! इसलिये कांग्रेस ने ग्रामोद्धार की ओर ध्यान दिया है और ग्रामों को ही राष्ट्रीय जागृति का

केन्द्र बनाने का निश्चय किया है और हमारे किसान तथा मजदूर ही इसके आधारस्तम्भ होंगे।

को-आपरेटिव आन्दोलन

एक जमाना था जब राजनीति और अर्थनीति एक-दूसरे से बिलकुल अलग थीं; पर वह जमाना गुजर गया। अब तो किसानों की आर्थिक अवस्था और किसानों के जीवन का कृषि-सम्बन्धी पहलू ही को-आपरेटिव आन्दोलन के मूल मन्त्र हैं। एक समय था जब समालोचकों की दृष्टि में कांग्रेस तथा को-आपरेटिव आन्दोलन, अगर एक दूसरे के विरोधी नहीं, तो कमसे-कम एक दूसरे से बहुत दूर जरूर माने जाते थे। लेकिन अब जमाने की रफ्तार के साथ ही लोगों के तथा कांग्रेस के दृष्टिकोण में भी अन्तर हो गया है। हाँ, को-आपरेटिव डिपार्टमेण्ट का दृष्टिकोण भी बदला है या नहीं, हम निश्चय-पूर्वक नहीं कह सकते। कांग्रेस की ओर आज भी सरकार सन्देह की दृष्टि से देखती है; इसके रचनात्मक कार्यक्रम में उसे राजनीति की गन्ध मालूम पड़ती है। साम्प्रदायिक एकता और हरिजनोत्थान को भी वह राजनीतिक चाल समझती है और मादक द्रव्यों के खिलाफ होनेवाले प्रचार से वह क्यों न घबड़ाये, जब कि बजट के घाटे को पूरा करने के लिये इसी से उसको खासी आमदनी होती है! रही खद्दर की बात, सो इसकी उपयोगिता को कभी-कभी वह भी स्वीकार करती है; परन्तु जो सरकार करघे के प्रचार और इसकी उन्नति के लिये ध्यान और समय लगाती है, पता नहीं, वह चरखे के प्रचार से क्यों

घबराती है। को-आपरेटिव विभाग अगर जुलाहों की सहायता कर सकता है, तो कोई वजह नहीं कि उसी सिद्धान्त के अनुसार वह चरखे पर सूत-कताई को प्रोत्साहन क्यों नहीं देती।

ग्राम-शिल्प का उद्धार

चरखा-प्रचार और सूत-कताई के साथ ही ग्रामशिल्प का प्रश्न आता है। को-आपरेटिव विभाग विनष्ट एवं मृतप्राय ग्राम-शिल्प के पुनरुद्धार के लिये बहुत कुछ कर सकता है। कांग्रेस ने जब ग्राम-शिल्प के उद्धार का कार्य-क्रम तैयार किया और इसे कार्यान्वित करने लगी तो सरकार उसे सन्देह की दृष्टि से देखती थी; किन्तु समय के साथ ही उसका सन्देह भी बहुत कुछ दूर हो चुका है। अतएव कोई वजह नहीं है कि ग्रामशिल्पों की तरक्की के लिये सरकारी को-आपरेटिव डिपार्टमेण्ट क्यों न कुछ करे। वह ऐसी प्रदर्शिनी का आयोजन कर सकता है, जहाँ आगरा, मुरादाबाद, पुरुलिया, विष्णुपुर, लखनऊ, पटना, या यों कहिये कि समस्त देश के विभिन्न भागों में हमारे कारीगरों द्वारा बनायी गयी चीजें बिक्री के लिये रखी जायँ, जिससे उनका काफी प्रचार हो और देश के विभिन्न शिल्पों को प्रोत्साहन मिले।

शिक्षा का कार्य

को-आपरेटिव आन्दोलन का कार्य देश के औद्योगिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रहना चाहिये। जनता में शिक्षा का प्रचार करना इनका भी उतना ही आवश्यक कर्त्तव्य है, जितना अन्य लोगों का। परन्तु अभी तो को-आपरेटिव शिक्षा और को-आपरे-

टिव द्वारा सफाई की व्यवस्था का एकान्त अभाव ही दिखाई पड़ रहा है। हां, इसके लिए कार्यारम्भ पहले स्वयं ग्रामवासियों की ओर से होना चाहिये और एक बार कार्य आरम्भ होने पर इस कार्य में पूरी मदद देना को-आपरेटिव विभाग का कर्तव्य है।

हरिजनों के लिए सहायता

को-आपरेटिव विभाग की ओर से हरिजनों को सुविधा प्रदान करने के लिये खास तौर पर व्यवस्था होनी चाहिये। इस समय हरिजनों को ज्यादा जरूरत है सामूहिक रूप में जमीन की। हमारा अभिप्राय यह है कि व्यक्तिगत रूप में हरिजनों को जमीन न दी जाय, बल्कि सामूहिक रूप में दी जाय, क्योंकि व्यक्तिगत सम्पत्ति होने से उनमें पूंजीवादी प्रवृत्ति पैदा हो सकती है और वे जमीन को अच्छे दामों में बेच कर रुपये बनाने की कोशिश कर सकते हैं, जो निस्सन्देह घातक होगा। अतएव हरिजन परिवारों की विभिन्न टोलियों की को-आपरेटिव सोसाइटियों को जमीन दी जानी चाहिये। इन परिवारों के प्रत्येक व्यक्ति को आजीवन उससे लाभ उठाने का अधिकार होगा, पर उसे बेचने का नहीं; जमीन की खेती भी को-आपरेटिव प्रणाली के ही अनुसार होनी चाहिये।

कांग्रेस और को-आपरेटिव आन्दोलन

आज हरिजनों के सामने यह एक समस्या है कि रहने के लिये झोपड़ी कहाँ बनायें—विशेषतः मद्रास प्रान्त में। इस समस्या को हल करने का एक मात्र उपाय है को-आपरेटिव सोसा-

इटियों के हाथ में। जिस प्रकार महज प्रस्ताव पास करने से ही स्वराज्य नहीं मिल जाता, उसी प्रकार मीठी-मीठी बातें करने से ग्रामोत्थान का काम नहीं हो सकता। इसके लिये दिन-प्रतिदिन कड़ी धूप, पानी और कीचड़ में काम करना होगा—और इस काम को व्यवस्थित रूप में करने के लिये हमें मौजूदा संगठन का उपयोग अवश्य करना चाहिये। इसके लिये यह आवश्यक है कि कांग्रेस तथा को-आपरेटिव आन्दोलन के बीच सम्बन्ध स्थापित किया जाय। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दुस्तान के प्रत्येक प्रान्त में कम से-कम आधे दर्जन ऐसे अग्रगण्य कार्यकर्त्ता अवश्य हैं, जिनको कांग्रेस तथा को-आपरेटिव आन्दोलन, दोनों के साथ समान रूप में दिलचस्पी है। इन दोनों के बीच सम्बन्ध स्थापित करने के लिये इन लोगों के सहयोग से लाभ उठाया जा सकता है। इस प्रकार दोनों ही मिलकर ग्रामोत्थान का जो कार्य-क्रम ठीक करेंगे; वह अवश्य सुन्दर होगा और उसे कांग्रेस कमेटी तथा को-आपरेटिव कानफरेन्स के सामने स्वीकृति के लिये पेश किया जा सकता है। इस तरह ग्रामोत्थान के कार्य को काफी बल प्राप्त होगा।

किसानों की कुछ समस्याएँ

[श्रीयुत सुवासचन्द्र बोस]

मैं इस छोटे से लेख में, भारत की वर्तमान भूमि समस्याओं का कोई अन्तिम हल सामने नहीं रक्खूँगा, केवल कुछेक समस्याओं का वर्णन करूँगा। अक्सर यह होता है—जैसे तर्क-शास्त्र में—कि समस्याओं के वर्णन मात्र से हल की कोई सूरत निकल आती है। यही बात भारत के भूमि-सम्बन्धी अर्थ-शास्त्र के साथ है।

भारत पर एक नजर डालने से मालूम होगा, कि यहाँ जमीन के प्रचलित नियम सब जगह एक से नहीं हैं। इसलिये, जहाँ इतनी विभिन्नता है, वहाँ हमें एक सदृशता पैदा करनी है और फिर उसमें मौलिक परिवर्तन करने हैं, ताकि हमारी भूमि-पद्धति सामाजिक न्याय के सिद्धांतों और आधुनिक युग की आवश्यकताओं से मेल खा सकें।

बंगाल, बिहार व उड़ीसा के प्रांतों तथा युक्तप्रांत व मद्रास प्रेजीडेंसी के कतिपय भागों में हम जमींदारी अथवा ताल्लुकेदारी प्रथा को अपने नंगे रूप में देखते हैं। बंगाल तथा उससे सटे हुए प्रांतों में, जहाँ इस्तमरारी बन्दोबस्त है, जमींदारी प्रथा का एक 'संशोधित' रूप भी पाया जाता है, जिसके अनुसार जमींदारों

द्वारा अदा किया जानेवाला मालिगाना तो निश्चित है, लेकिन किसानों द्वारा लिया जाने वाला भूमि-कर परिवर्त्तनशील है। मध्यभारत, महाराष्ट्र व गुजरात में रैयतवारी प्रथा जारी है, यहाँ बंगाल व उसके निकटवर्ती प्रांतों जैसी जमींदारी नहीं।

विदेशों में

अब जमींदारी प्रथा की नैतिकता पर बहस करने की जरूरत नहीं है। समस्त प्रगतिशील मनुष्य इस बात से सहमत होंगे कि जमींदारी प्रथा को नष्ट कर देना चाहिये। समस्या केवल यह है कि बिना कटुता, घृणा व रक्तपात के इस प्रथा का अन्त कैसे किया जाय? भारत से बाहर हम देखते हैं कि गैर-सोशलिस्ट देशों में भी जमींदारी प्रथा को हटाया जा रहा है। गत वर्ष अपनी आयरलैंड-यात्रा के दौरान में मुझे आयरिश फ्री स्टेट की भूमि-समस्या पर, वहाँ के भूमि मन्त्री से विचार-विनिमय करने का अवसर मिला। उन्होंने मुझे बतलाया, कि सरकार किस तरह बड़े-बड़े जमींदारों की जमीन जो पहले बतौर चरागाह इस्तेमाल की जाती थी, खरीद रही है और उसे किसान मिल-कियत पद्धति (सिस्टम ऑफ पेजैण्ट प्रोप्राईटरशिप) के मातहत खेती-बारी के लायक बना रही है। यह बलपूर्वक बेदखली का नहीं, बल्कि मुआवजे का मामला है। पिछले सालों में, पूर्वी प्रशिया में भी इसी तरह के एक उपाय का अवलंबन किया गया था, जहाँ सरकार ने जंकरों (प्रशिया के रईस) की दीवालिया जायदादें अपने कब्जे में करके किसानों में बाँट दी थीं। इसके विपरीत, रूस में

जमींदारी प्रथा का अन्त 'बलपूर्वक बेदखली' द्वारा किया गया। सन् १९१७ ई० की क्रान्ति के दौरान में, जब रूस में कुछ दिन गड़बड़ रही, तब जमीन के भूखे किसानों ने जमींदारों का नाश कर जमीनों पर अपना कब्जा कर लिया। जब बोलशेविक सरकार कायम हो गयी, तो उसने देखा, कि जमींदार गायब हो गये और उनकी जगह किसान मालिकों ने ले ली है। खैर, सरकार कागज पर यह घोषणा करके सन्तुष्ट हो गयी कि "भूमि राष्ट्र की है—" अर्थात् भूमि पर सरकार का अधिकार है, किसी व्यक्तिविशेष का नहीं। लेकिन, लगभग १२ साल तक वह आँखें बन्द किये किसान-मिलकियत-पद्धति को बरदाश्त करती रही। १२ साल के बाद सरकार की ओर से सामूहिक खेती और किसान मालिकों (जो रूस में 'कुलकों' के नाम से मशहूर हैं) को धीरे-धीरे बेदखल करने का आन्दोलन शुरू किया गया।

विषम और कठिन समस्या

बंगाल जैसे प्रांतों में, केवल जमींदारी-प्रथा ही नहीं है, बल्कि भूमि-नियम पद्धति बड़ी पेचीदा है, क्योंकि वहाँ किसानों के नाना अधिकारों के साथ कई दरजे हैं। ऐसे प्रान्तों में जमींदारी को हटाने और एक विशेष भूमि नियम पद्धति (जैसी सारे देश में चलानी चाहिये) जारी करने के अलावा वर्तमान पद्धति को भी काफी सरल करना पड़ेगा और किसानों के इन दरम्यानी दरजों को हटाना होगा। वास्तव में भीषण क्रांति के बिना इन विशाल समस्याओं का हल सोचने में भारत के राजनीतिज्ञों को बहुत माथापच्ची करनी पड़ेगी।

कर्जदारी और चकबन्दी

यह सच है, कि जमींदारी प्रथा की बुराइयों के अलावा हमारे किसानों के सामने कर्जदारी व हानिकारक चकबन्दी की दो बड़ी समस्यायें और हैं। इस बात पर सब सहमत हैं कि किसानों की कर्जदारी भी दूर करनी है। लेकिन, यह कैसे किया जाय और इस काम के लिये रुपया कहाँ से लाया जाय?—यह समस्या भी हल होनी आसान नहीं है। इसके अतिरिक्त वर्तमान कर्जदारी को दूर करने से ही तो समस्या हल नहीं होती। मान लीजिये, आप एक झटके में किसानों की कर्जदारी दूर कर देते हैं, लेकिन, २० या ५० साल में इसके पुनरागमन को रोकने के लिये आप क्या करेंगे? किसानों को कुछ जमीन देनी पड़ेगी, जिसकी उपज से वे अपने परिवारों का निर्वाह कर सकें। दूसरे शब्दों में, हानिकारक चकबन्दियों का अन्त करना पड़ेगा। और जब तक हानिकारक चकबन्दियाँ बन्द नहीं होंगी, तब तक न तो सामूहिक खेती ही संभव हो सकती है और न ही वैज्ञानिक ढंग से व्यापक खेती। इसलिये जमींदारी प्रथा को हटाने के बाद भूमि की नये सिरे से पैमाइश करनी होगी और एक नया बन्दोबस्त करना पड़ेगा, जिसमें हानिकारक चकबन्दियाँ नहीं रहेंगी।

विरासत में भूमि के टुकड़े

फिर, दूसरी समस्यायें हैं, जिनको पहले से विचार कर हल कर लेना होगा। मान लो, नया बंदोबस्त हो जाता है। समस्त हानिकारक चकबन्दियाँ जाती रही हैं—लेकिन भविष्य में हम

किसानों को फिर कर्जदार व फिजूल-खर्च होने से कैसे रोक सकेंगे ? निःसन्देह, हम यह कानून बनवा सकते हैं, कि कोई किसान भूमि को रेहन न रखे और नहीं बेचे। इससे किसान कुछ हद तक अपनी चादर के मुताबिक पैर फैलाने को बाध्य हो सकता है। लेकिन, यदि उसके पीछे एक बड़ा परिवार है, तो वह क्या करेगा ? जब वह मर जायगा और उसकी जमीन लड़कों को मिल जायगी, तब क्या होगा ? यह पेचीदी समस्यायें हैं।

संतति निग्रह

फ्रांसीसी किसान इन समस्याओं को निम्न प्रकार हल करते हैं:—

अप्राकृतिक सन्तति-निग्रह द्वारा वे बहुत छोटे परिवार रखने की व्यवस्था कर लेते हैं; जिसके फलस्वरूप अपने जीवन-काल में वे आनन्द से रह सकते हैं। तब भूमि के छोटे टुकड़े नहीं होते हैं। (लेकिन, यह दस्तूर नई समस्यायें पैदा कर देता है; जैसे फ्रांस की आबादी बढ़नी बन्द हो गई है, जब कि जर्मनी सरीखे निकटवर्ती देशों की आबादी तेजी से बढ़ रही है।) इस कारण, अन्य देशों के किसानों के मुकाबले में फ्रांसीसी किसानों की हालत बहुत अच्छी है, वे खुशहाल हैं।

मुझे याद है, कि सन् १९३४ ई० में, जब मैं जिनेवा में था, एक फ्रांसीसी महिला (सोशलिस्ट) मुझ से मिली, जो किसी समय 'सोवियट पद्धति' की बड़ी भक्त थी। उसने कहा "रूस-यात्रा के बाद मेरा उत्साह बहुत कुछ कम हो गया है, क्योंकि

मैंने देखा कि भूमि के राष्ट्रीय करण और सामूहिक खेती के बावजूद रूसी किसानों के मुकाबले में फ्रांसीसी किसानों की दशा बहुत अच्छी है।" इस पर मैंने कहा, कि आपको आज के रूसी किसानों का जार-कालीन किसानों से मुकाबला करना चाहिये और सोवियट सरकार को अपने किसानों की हालत सुधारने के लिए अभी और समय देना चाहिये। बात यह है कि फ्रांसीसी किसान सन्तति-निग्रह द्वारा कर्जदार होने और भूमि के टुकड़े करने से बच जाते हैं।"

भारत में हम किसानों की बढ़ती हुई कर्जदारी, खेतों को बेचना व रेहन रखना कानूनन बन्द रोक सकते हैं, लेकिन इस हालत में सरकार अथवा को-आपरेटिव सोसाइटियां द्वारा किसानों के लिये आवश्यक पदार्थ-मवेशी, औजार, बीज आदि मुहय्या करना पड़ेगा।

भविष्य में हम भूमि के टुकड़े होने से कैसे रोकेंगे? किसानों को संतति-निग्रह के लिये बाध्य करना मुश्किल है, चाहे यह वांछनीय उपाय ही हो। इन हालतों में यदि मेंट भूमि के वारिस होंगे तो भूमि के टुकड़े होने अनिवार्य हो जायेंगे और भूमि के टुकड़े हो जाने से किसानों की आर्थिक दशा खराब हो जायगी। इसलिये, या तो भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व को हटाना पड़ेगा— या (यदि भूमि पर किसानों का स्वामित्व है) सरकार को जब भी कोई मरेगा तभी एक नया बन्दोबस्त करना पड़ेगा। दूसरे शब्दों में, भूमि सम्बन्धी कानून विरासत में मौलिक परिवर्तन

होने चाहियें, ताकि पिता की मृत्यु के बाद भूमि स्वतः बेटों के हाथों में न जा सके।

यहाँ यह बात ध्यान में रखनी है, कि यदि भूमि की ऐसी चकबन्दियाँ जिनसे लाभ के बदले घाटा हो, हटा दी जाती हैं और यदि उपर्युक्त ढंग से विरासत-कानून में भी तबदीली कर दी जाती है, तो आबादी का एक बहुत बड़ा हिस्सा भूमि से वंचित हो जायगा और देश में बेकारी की समस्या अधिक भयंकर रूप धारण कर लेगी। वैज्ञानिक ढङ्ग से की गयी खेती, आजकल की अपेक्षा, अधिक मनुष्यों के भरण-पोषण में मदद कर सकती है, लेकिन इससे बेकारी की अवस्था का कोई हल नहीं हो सकता है। यह समस्या तो व्यवसायों को उन्नत करने से ही हल हो सकेगी। इसलिये, खेती की ठीक व्यवस्था तभी सम्भव हो सकती है, जब कि व्यवसाय की भी उन्नति हो।

कम्युनिस्ट दृष्टिकोण में परिवर्तन

[*श्री शचीन्द्रनाथ सान्याल*]

जिस समय मार्क्स और एंजिल्स ने कम्युनिस्ट पार्टी के सिद्धान्त की राजनीतिक परिभाषा में अपनी प्रतिभा के आलोक तथा युक्ति एवं तर्क के अमोघ-प्रयोग से संसार को चकित कर दिया था, उस समय की परिस्थिति और आज की परिस्थिति में बहुत अन्तर हो गया है। लेकिन ऐसे बहुत से मार्क्सिस्ट हैं जो इस बात का अनुभव नहीं करते कि अवस्था के परिवर्तन से नीति में भी परिवर्तन करना आवश्यक होता है। ऐसे मार्क्सिस्टों से लेनिन को भी बहुत परेशानी उठानी पड़ी थी, बहुत उलझनों का सामना करना पड़ा था। इन नौसिखुए मार्क्सिस्टों को लेनिन अवज्ञा से 'इन्फैण्टाइल लेफ्टिस्ट' कहते थे। इन सब द्वंद्वों के मूल में कुछ ऐसे मार्क्सिस्ट सिद्धान्त हैं जिनके बारे में आज गम्भीरतापूर्वक विवेचन की आवश्यकता है।

कम्युनिस्ट सिद्धान्त की एक मुख्य बात यह है कि वस्तु-स्थिति के अनुसार पारिपार्श्विक वातावरण के परिणाम में, आर्थिक परिस्थिति के कारण सामाजिक स्थिति भी बनती है। पूंजीपतियों की उन्नति के साथ-साथ समाज में मजदूर वर्ग की अवनति होती है। इस प्रकार से शोषित वर्ग अधिक से अधिक निपीड़ित होने

पर श्रेणी संघर्ष दिन पर दिन उग्र से उग्र रूप धारण करता जाता है। इस श्रेणी संघर्ष के परिणाम स्वरूप शोषित वर्ग के भीतर से उपयोगी नेता का उद्भव होता है। इस प्रकार से नेताओं का उद्भव होना कम्युनिस्ट सिद्धान्त में अवश्यम्भावी समझा जाता है। अर्थात् पारिपार्श्विक परिस्थिति के कारण जो सामाजिक व्यवस्था होगी उसमें यह भी अवश्यम्भावी है।

कम्युनिस्टों मैनीफेस्टो में मार्क्स एंजिल्स ने स्पष्ट शब्दों में यह बता दिया है कि पूंजीपतियों की उन्नति के साथ-साथ प्रालिटारियट (सर्वहारा) का संगठन दिन-ब-दिन सुदृढ़ होता जायगा एवं अदूर भविष्य में इन दोनों श्रेणियों का संघर्ष अनिवार्य है एवं इस संघर्ष के परिणाम में प्रालिटारियट की विजय भी अनिवार्य है।

लेकिन पिछले सौ वर्ष के इतिहास को देखते हुए यह अनायास ही कहा जा सकता है कि इस नीति में कहीं भारी भूल है। उद्योग-धन्धों की उन्नति की दृष्टि से रूस योरप भर में सब से पिछड़ा हुआ देश था। पूंजीपतियों का बोलबाला इंगलैंड, फ्रान्स और जर्मनी में जैसा था वैसा किसी भी योरोपियन देश में नहीं था लेकिन आज भी वहाँ प्रालिटारियट की जागृति कुछ भी नहीं हुई है। पूंजीवाद की चरम उन्नति अमेरिका और जापान में जैसी हुई है, अन्य किसी देश में शायद ही ऐसी हुई हो। चीन भी संसार में उद्योग-धंधों की दृष्टि से सबसे पिछड़ा हुआ देश है। लेकिन यहाँ भी कम्युनिस्टों की उन्नति जैसी देखने में आई है, एशिया के किसी भी अन्य, देश में देखने को नहीं मिली। स्पेन

भी योरोप में सबसे पिछड़ा हुआ देश था। लेकिन स्पेन में भी जैसा कम्युनिस्ट एवं अन्य प्रगतिशील संस्थाओं के साथ पूंजीपति तथा कट्टरपन्थियों का विकट संघर्ष देखने में आया ऐसा किसी अन्य देश में देखने को नहीं मिला। इन सब घटनाओं को देखते हुए कट्टरपन्थी मार्क्सवादी लेनिन ने मार्क्सियन नीति में इस त्रुटि के उत्तर में जो कुछ कहा है उसे अपने समर्थन में दलील के रूप में पेश करते हैं। लेनिन ने मार्क्सियन नीति की व्याख्या करते हुए यह कहा है कि पूंजीपतियों के समाज में श्रेणी संघर्ष अनिवार्य है और इस श्रेणी संघर्ष के परिणाम में दलित वर्गों की विजय तो अवश्यम्भावी है लेकिन साम्राज्यवाद की शृंखला में जो स्थान सब से दुर्बल है उसी स्थान पर सर्व प्रथम दलित वर्गों की विजय होगी। रूस, चीन अथवा स्पेन इन सब प्रदेशों में साम्राज्यवादियों का संगठन सबसे कमजोर था, इसलिये इन प्रदेशों में सब से पहले प्रालिटारियट का अभ्युत्थान हुआ। योरुप अथवा अमेरिका के अन्य प्रदेशों में पूंजीपतियों की राष्ट्र-शक्ति अव्याहत रही, इसलिए उन देशों में शोषित वर्ग क्रान्ति के द्वारा अपने अस्तित्व को निर्भय रूप से व्यक्त नहीं कर सका।

यहाँ पर हमें सूक्ष्म दृष्टि से इन सब बातों पर विचार करना नितान्त आवश्यक है। यह बात सच है कि योरुप और एशिया में रूस, चीन और स्पेन की राष्ट्र-शक्ति सब से दुर्बल थी। और यह भी सच है कि इंगलैंड, जर्मनी और फ्रान्स पूंजीवादी राष्ट्र-शक्ति की दृष्टि से सब से बली थे। और इसमें भी कैसर के समय के जर्मन राष्ट्र में पूंजीपतियों का संगठन सब से प्रबल

था। जर्मनी की सिविल सर्विस की प्रशंसा अंग्रेज और फ्रान्सीसी सभी करते थे। लेकिन जर्मनी में भी राष्ट्र क्रांति हुई, कैसर को भागना पड़ा, हिंडेनबर्ग को क्रान्तिकारियों के सामने झुकना पड़ा। जर्मनी की पुरानी राष्ट्र शक्ति टूट गई और उसके साथ-साथ लेनिन की व्याख्या भी टूट गई। जो क्रान्तिकारी जर्मनी में विप्लव साधन में कृतकार्य हुए वे प्रालिटारियट नहीं थे।

एक और बात भी यहाँ याद रखनी आवश्यक है। जर्मन-राष्ट्र विप्लव के अवसर पर प्रालिटारियट धर्म के प्रतिनिधि भी काम कर रहे थे। लेकिन रोजालक्षम बर्ग और लाएबनेक्ट के निहत हो जाने के बाद जर्मन प्रालिटारियट वर्ग से और किसी दूसरे नेता का उद्भव नहीं हुआ और इस कारण जर्मनी का प्रालिटारियट वर्ग फिर सर न उठा सका। नेतृत्व की मर्यादा हम यहाँ ठीक ठीक अनुभव कर सकते हैं। यह कहना कि और वस्तुस्थिति के कारण ही वे मारे गये; वस्तुस्थिति के कारण ही दूसरे नेता का उद्भव नहीं हुआ, एवं अन्य परिस्थिति में अन्य नेताओं का उद्भव होना सम्भव है, मानों युक्ति के स्थान पर भक्ति को ही अधिक श्रेय देना है।

फिर इटली और आस्ट्रेलिया में भी तो विप्लव मचा हुआ था, पौलैण्ड की हालत कौन सी सुलझी हुई थी? रोमानिया, बलगेरिया, चेकोस्लवेकिया, टर्की इन सब देशों की परिस्थिति के समय भी तो हम भूल नहीं सकते। इन सब देशों में प्रालिटेरियट जागृति क्यों नहीं हुई?

थोड़े शब्दों में इसके उत्तर में हम यह कह सकते हैं कि ऐतिहासिक प्रगति के मूल में केवल एक ही सिद्धान्त काम नहीं कर रहा है। व्यक्तित्व की मर्यादा के प्रति हम उदासीन नहीं रह सकते। शक्तिशाली पुरुष वस्तु स्थिति को पलट देने में अनेक समय सफल हुए हैं। जिस समय प्रजा पर पीड़न होता है, समाज में दुख की यंत्रणा मर्मभेदी होती है यदि ऐसे समय में शक्तिशाली उपयुक्त नेता का आविर्भाव होता है, तो चाहे किसी सिद्धान्त का सहारा लेकर वह काम करे, अवश्य ही विजय की वर-माला उसके गले में अधिकांश समय में लटकती है। इसके अतिरिक्त और भी कुछ नैतिक बातें हैं जिसकी आलोचना हम इस स्थान पर स्थगित रख रहे हैं।

रूस में राज्य-क्रान्ति हुई। लेकिन इस क्रांति के नियन्त्रण में प्रथम अवस्था में बोलशेविक पार्टी का विशेष हाथ नहीं था। बोलशेविक और 'सोशल रिवोल्यूशनरीज' इस काम में सर्व प्रथम अवतरित हुए थे। केरेन्सकी कम्युनिस्ट पार्टी के नहीं थे। रूस की राज्यक्रांति की पर्यालोचना करने पर हमें यह मालूम हो जायेगा कि जर्मनी और आस्ट्रिया की राज्य शक्ति ने जार के राज्य को विध्वस्त कर दिया था! रूस में खाद्याभाव के कारण उपद्रव होने लगे। वहाँ का नारी वर्ग जुलूस इत्यादि निकाल कर प्रदर्शन करने लगा। इन नारियों के प्रति सहानुभूति दिखलाने के लिये वहाँ का मजदूर वर्ग भी कारखानों में हड़ताल करने लगा। किन्तु बोलशेविक पार्टी के नेतागण इन हड़तालों के विरोध में थे। इन नेताओं ने अपनी भरसक कोशिश की कि हड़ताल न हो

लेकिन इनकी एक भी न चली, जब हड़ताल होने लगी तब इन्होंने भी हड़तालियों का साथ दिया।

सन् १९०५ में भी रूस में एक बहुत बड़ी हड़ताल हुई थी। वैसी सुनियन्त्रित और सफल हड़ताल शायद ही किसी देश में और कभी हुई हो। इस हड़ताल के नेतृत्व में स्वयं ट्राटस्की थे, करीब-करीब एक वर्ष तक हड़ताल चलती रही। एक प्रान्त के गवर्नर को भी ट्राटस्की की एक कमेटी के पास से अनुमति लेनी पड़ी थी, तब जाकर उनकी स्त्री के इलाज के लिए दूसरे स्थान से एक डाक्टर रेल पर आ सका था, रेलगाड़ी का आना जाना तक इस कमेटी की अनुमति से ही होता था। जार की सरकार करीब एक वर्ष में इस देश-व्यापी हड़ताल को दबा सकी थी। लेकिन इस समय पलटन के सिपाहियों ने इन हड़तालियों का साथ नहीं दिया। फलस्वरूप, ऐसी सुनियन्त्रित और परिपूर्ण हड़ताल अन्त में व्यर्थ हो गई। राष्ट्र-विप्लव नहीं हुआ। स्मरण रहे ट्राटस्की कम्यूनिस्ट पार्टी के नहीं थे, यह मेन्शेविक थे, मेन्शेविक्स और 'सोशल रिवोल्यूशनरीज' समय-समय पर आपस में मिलकर काम किया करते थे। १९०५ में प्रोलेटारियट जागृत हो चुका था। उसकी जो कुछ शक्ति थी उस वर्ग शक्ति से भरपूर काम लिया गया। लेकिन क्रान्ति नहीं हुई। उस समय परिस्थिति में कौन सी कमी रह गई थी कि जिससे क्रान्ति नहीं हुई? मेरी समझ में केवल एक बात थी जिसकी वजह से क्रान्ति नहीं हुई। वह यह कि राष्ट्र की पल्टन ने क्रान्तिकारियों का साथ नहीं दिया। १९१७ में वही महायुद्ध में भीषण रूप में हार रही

थी और अन्त में युद्ध से क्लान्त होकर इनमें विपरीत भावनायें उत्पन्न होने लगी थीं। इतने में रूस की राजधानी में उपद्रव होने लगे। इस उपद्रव के अवसर पर अब की बार पल्टन ने प्रजा का साथ दिया। क्रमशः मजदूरों में छोटे-छोटे नेता क्रांति की भावना फैलाने लगे। कम्युनिस्ट पार्टी के मुख्य नेतागण या तो देशान्तर में थे। अथवा जार के कारागारों में। उपद्रव दिन पर दिन गम्भीर रूप धारण करता गया। भूख के कारण हड़ताल और उपद्रव होते-होते अन्त में राज्य क्रान्ति प्रारम्भ हो गई। क्रान्ति प्रारम्भ होने के बाद भी और क्रान्ति के साथ मजबूरन होते हुए भी बोलशेविक पार्टी के नेताओं ने इस क्रान्ति का नेतृत्व अपने हाथों में नहीं लिया। अन्त में क्रान्ति की अवस्था में रूस का राज्य भार मेन्शेविक्स, सोशल रिवोल्यूशनरीज अथवा लिबरल्स के हाथों में आया। और क्वालिशन सरकार बनी। ट्राटस्की और लेनिन के आने के पहले दिन तक बोलशेविकों ने कल्पना भी नहीं की थी कि राज्य शक्ति को इस समय पर हथिया लें। ट्राटस्की ने मुक्तकण्ठ से इस बात को स्वीकार किया है कि लेनिन के आने पर ही रूस के बोलशेविक नेतागण ने बाध्य होकर राष्ट्र को अपने हाथ में लेने का संकल्प किया और इसके परिणाम में अक्टूबर की प्रसिद्ध क्रान्ति हुई, इसलिये ट्राटस्की ने अपने प्रसिद्ध इतिहास में व्यक्तित्व के महत्व को स्पष्ट शब्दों में निर्देष किया है। आजकल अनेक समझदार कम्युनिस्ट इस बात को स्वीकार करते हैं कि वस्तुस्थिति अनुकूल होने पर भी, उपयुक्त नेतृत्व के अभाव से क्रांति नहीं भी हो सकती है और

अगर हुई भी तो असफल रह सकती है। इसका अर्थ होता है वस्तुस्थिति अथवा प्रालिटोरियट जाग्रति, उपयुक्त नेताओं को पैदा कर भी सकती है और नहीं भी कर सकती।

यथार्थ में कम्युनिस्ट सिद्धांत के गर्भ में एक अति प्रबल एवं अति महान् प्रेरणा मौजूद है। इस प्रेरणा का मूलमन्त्र है दुखी को सुखी करना समाज से अत्याचार की जड़ को उखाड़ फेंकना, संसार-व्यापी अकल्याण और पीड़ा को मिटा देना। इसलिये आधुनिक जगत में जहाँ-जहाँ पर पीड़ा की मात्रा निष्ठुर हद तक पहुंच चुकी है, जिस देश में पीड़ितों का आर्तनाद समाज के वातावरण को कलुषित कर चुका है, उस देश में यदि कोई महा-मानव परार्थे दुख से कातर होकर उन उन दुखी, पीड़ित, पद-दलित वर्ग की तरफ होकर अपनी कर्मशक्ति को संचालित करता है तो उसका सफल होना बहुत कुछ सम्भव है। यही कारण है कि रूस और चीन उद्योग धंधों की दृष्टि से बहुत पिछड़े होने पर भी उन देशों में राज्य क्रान्तियाँ हुईं। और कम्यूनिस्ट पार्टी ने उन देशों में परिस्थिति से काफी फायदा उठाया।

जर्मनी में राज्य क्रांति के बाद प्रजा-तंत्रात्मक सरकार स्थापित हुई। वहाँ के सोशलिस्टों के हाथ में बहुत बड़ी मात्रा में राज्य शक्ति आ गई। राज्य क्रांति के समय में कम्युनिस्ट नेतागण मारे गये। वहाँ के कम्युनिस्ट पार्टी के प्रयत्न सर्वांश में असफल रहे। लेकिन रिपब्लिक ने जर्मनी में सोशलिस्टों का ही बोलबाला रहा। कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल के नेतृत्व में जर्मनी में पुनः कम्युनिस्ट पार्टी का कार्यक्रम प्रारम्भ हो गया। रिपब्लिकन जर्मनी में

नागरिक स्वतंत्रता यथेष्ट परिमाण में थी। कम्युनिस्ट पार्टी को पनपने के लिये पर्याप्त अवसर मिला। स्मरण रहे कि जर्मन प्रदेश कम्युनिज्म के सिद्धांत का जन्मदाता है। यही देश कार्डिनल लाशाल, कार्लमार्क्स इत्यादि का कार्य क्षेत्र रहा। समग्र योरुप में ट्रेडयूनियनिज्म एवं कम्युनिज्म का कार्य जर्मनी में सबसे प्रबल एवं व्यापक रहा। 'इन्डस्ट्रियलिज्म' औद्योगिकता में भी जर्मनी की प्रतियोगिता शायद ही कोई अन्य देश कर सकता था। लेकिन ऐसे देश में कम्युनिस्ट अपने कार्य में सफल नहीं रहे, कैसर का साम्राज्य नष्ट भ्रष्ट हो चुका था। वहाँ की राष्ट्र-शक्ति भी वहाँ के नवीन और प्रगतिशील वर्ग के हाथ में आ चुकी थी। अभी नवीन राष्ट्र के पैर ठीक-ठीक जमे नहीं थे। तथापि कम्युनिस्ट पार्टी ऐसी परिस्थिति में भी अपने उद्देश्य साधन में कृतकार्य नहीं हो सकी। लेनिन का नया फारमुला (युक्ति) ऐसी परिस्थिति में लागू नहीं हो सकता। हिटलर की विजय से यह सिद्ध होता है कि राष्ट्रीयता की प्रेरणा अतुल रूप में इतिहास की गति को पलट सकती है। आर्थिक संकट अथवा नवीन एवं सार्थक आर्थिक योजना राष्ट्रीयता की लहर के सामने कभी भी टिकने में असमर्थ होती है।

दूसरी बात यह है कि नेतृत्व की मर्यादा सामाजिक प्रगति के मूल में कुछ कम असर नहीं रखती है। इतिहास में कितने बार यह देखा गया है कि महान व्यक्तियों ने परिस्थिति को अपने अनुकूल बना लिया वस्तुस्थिति को पलट दिया है। इसीलिये

कम्युनिस्ट पार्टी में उपयुक्त नेता न रहने के कारण जर्मनी में कम्युनिस्ट पार्टी हार गई और हिटलर की विजय हो गई।

महायुद्ध के बाद आस्ट्रिया और इटली की राष्ट्र शक्ति नितान्त अव्यवस्थित हो चुकी थी। इटली और आस्ट्रिया में कम्युनिस्ट पार्टी काम रही थी। लेकिन इन दोनों देशों में अन्त में राष्ट्र शक्ति कम्युनिस्ट पार्टी के हाथ में न आकर अन्य पार्टियों के हाथों में चली गई। आर्थिक दृष्टि से अर्थात् उद्योग धन्धों की दृष्टि से रूस और इटली एवं आस्ट्रिया में क्या अन्तर था? चीन में तो उद्योग-धन्धों की कुछ भी उन्नति नहीं हुई थी। फिर उस देश में कम्युनिस्ट पार्टी का जन्म एवं उन्नति कैसे हुई? लेनिन के फारमूला से इन सब प्रश्नों का यथार्थ उत्तर नहीं दिया जा सकता।

एक बात यह भी है कि आज कम्युनिस्ट पार्टी संसार भर में अपने प्रभाव को विस्तारित करने में नितान्त व्यग्र है। तो क्या संसार भर की परिस्थिति एक सी है? क्या संसार के विभिन्न देशों में उद्योग-धन्धों की, सामाजिक रीति रिवाजों की, जन साधारण के शिक्षा दीक्षा की, समाज के राष्ट्र चेतना की, साहित्य की, ज्ञान विज्ञान के विस्तार की अर्थात् चन्द शब्दों में संसार के विभिन्न देशों की पारिमार्थिक मानसिक एवं भौतिक परिस्थिति क्या एक सी है? इस प्रश्न का उत्तर हम सभी जानते हैं। संसार में विभिन्न परिस्थितियों में भी कम्युनिस्ट अपने सिद्धान्त का प्रचार करना सार्थक समझते हैं। वे समझते हैं कि परिस्थिति को वह बदल सकते हैं, नूतन परिस्थिति उत्पन्न कर

सकते हैं। इसलिये सारे ही देशों में कम्युनिस्ट पार्टी अपना प्रभाव फैलाने के कार्य में लगी हुई है। उनके सिद्धान्त और उनके कार्यक्रम में कभी कभी बहुत विरोध देख पड़ता है।

पिछले कुछ वर्षों की अभिज्ञता के बाद कम्युनिस्ट इन्टर-नेशनल ने अब यह निश्चय किया है कि भविष्य में परिवर्तित नीति के साथ काम करना है। जर्मनी में अप्रत्याशित असफलता के बाद अब कम्युनिस्टों ने यह निश्चय कर लिया है कि विभिन्न देशों की राष्ट्रीय प्रगति के साथ मिल कर काम करना है। कुछ दिन पहिले भारत में कम्युनिस्ट पार्टी की नीति यह थी कि श्रेणी संघर्ष को उग्र रूप से चलाया जाये। और इस नीति के अनुसार भारत के कम्युनिस्टों ने भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का साथ नहीं दिया। कांग्रेस आन्दोलन को उन्होंने विद्रूप की दृष्टि से देखा। मार्क्सियन शब्द योजना के अनुसार राष्ट्रीय आंदोलन को बूर्जुवा श्रेणी संघर्ष सूचक शब्दों से कटूक्ति की! लेकिन अब उनकी नीति में यथेष्ट परिवर्तन होने लगा है। यह परिवर्तन अभी बौद्धिक धारणा मात्र के रूप में हुआ है। कार्यक्षेत्र में पिछले संस्कार के कारण वे परिवर्तित धारणा को आचरण का रूप नहीं दे सके हैं। अब प्रश्न यह है कि कम्युनिस्ट पार्टी की नीति में इस परिवर्तन की क्यों आवश्यकता हुई ? कम्युनिस्ट नीति में श्रेणी संघर्ष का स्थान चरम अगर नहीं है तो परम आवश्यक अवश्य ही है। अब श्रेणी संघर्ष के साथ, बुर्जुवा नेशनल डिमो-क्रेटिक आंदोलन की सहयोगिता करना कहाँ तक संभव एवं बुद्धि-संगत है। चीन में तो थोड़े समय से श्रेणी संघर्ष की नीति

को कम्यूनिस्ट पार्टी ने त्याग दिया है। कुछ दिन पहिले चीन के प्रत्येक धनी व्यक्ति को जापान का पक्षपाती बता दिया जाता था। धनी होने का अर्थ ही यह समझा जाता था कि वह कम्युनिस्टों के शत्रु हैं। अब ऐसा नहीं समझा जाता है। धनी हो फिर भी यदि वह व्यक्ति कम्युनिस्टों के पक्ष में जापानियों का विरोध करता है तो धनी होने पर भी उसे कम्युनिस्ट अपना शत्रु नहीं समझते। इसी प्रकार अन्य बहुत-सी बातों में भी चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की नीति में महान अन्तर हो गया है। यह सत्य है कि वहाँ की कम्युनिस्ट पार्टी का अस्तित्व अभी क़ायम है, इसलिये भविष्य में वहाँ पर फिर श्रेणीसंघर्ष की सम्भावना है। भारत में भी कम्युनिस्ट पार्टी राष्ट्रीय आन्दोलन का साथ देना चाहती है। इसका कारण यह है कि श्रेणीसंघर्ष से ही हर समय काम नहीं चलता।

यहाँ की कम्युनिस्ट पार्टी के विरोधी उनके ऊपर नाना प्रकार के लाञ्छन लगाते हैं। लेकिन वह यह नहीं समझते कि यह लांछन कम्युनिस्ट पार्टी को प्राप्त नहीं है, यह तो कम्युनिस्ट सिद्धांत पर लागू है। कम्युनिस्ट पार्टी तो मार्क्स के सिद्धांत पर चलने में आंतरिक चेष्टा करती हैं। यदि वे असफल होते हैं तो उसका कारण मार्क्सियन नीति में ढूंढ़ना चाहिये न कि कम्युनिस्ट पार्टी के आचरण में। कम्युनिस्ट पार्टी की नीति में जो विशेष और महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे हैं ये पर्याप्त प्रमाण है कि सिद्धांत में अवश्य गंभीर त्रुटियाँ रह गई हैं।

क्रान्ति की लहर

[अमर शहीद श्रद्धेय गणेशशंकर विद्यार्थी]

फ्रांस के इतिहास में १८३१ और १८३२ ये दो वर्ष अपना विशेष स्थान रखते हैं। इन दो वर्षों में फ्रांसीसी-समाज में बड़ी उथल-पुथल मची और उसकी अनेकानेक बातें बनीं और बिगड़ीं। नेपोलियन के पश्चात् फ्रांस में पुराने राजवंश की स्थापना हुई। लोग थके हुए थे। उन्हें विश्राम की आवश्यकता थी। सबके मन में एक बात थी, और वह यह कि शान्ति हो। फ्रांस की प्रथम क्रांति से लेकर नेपोलियन के पतन तक, लोगों ने बड़ी बड़ी घटनायें बड़े बड़े दिग्विजय, बड़े बड़े आदमी खूब देखे थे। अब उनसे उनकी तृप्ति हो गई थी। अब तो छोटी छोटी बातों ही से चित्त सन्तुष्ट होने के लिये तैयार हो गया था। नेपोलियन के स्थान पर किसी छोटे-मोटे राजा ही को देख कर चित्त हरा-भरा हो जाने के लिये तैयार था। बड़ी लम्बी यात्रा कर चुके थे, प्रातःकाल से कूच आरम्भ हुआ था, पहली मंजिल पर मिराबो के दर्शन हुए, दूसरी पर रोब्सपीरी के, और तीसरी पर नेपोलियन बोनापार्ट के। अब, संध्या हो चुकी थी, चलने वाले थक गये थे, उनमें से हर एक का जी यह चाहता था कि बिछौना मिले और आराम से लोट लगाई जाय।

श्रद्धा, क्रांति, वीरता, महत्वाकांक्षा, धन और यश की चाह, सभी चरम सीमा पर पहुंच चुकी थीं और उन सबके उपासकों के मन में अब केवल एक ही अभिलाषा थी, कि अब शांति के साथ विश्राम करने का अवसर प्राप्त हो। इधर विश्राम की चाह थी, उधर क्रांति और युद्ध के इस बवंडर में जनता को जो अधिकार प्राप्त हो गए थे, वे अपने रूप की रक्षा, प्रबल स्पष्ट वरदान चाहते थे। कहा जाता है कि लोग इस प्रकार का वरदान किया करते हैं, किन्तु सच तो यह है कि राजा क्या देते हैं, परिस्थिति के कारण ही जनता को इस प्रकार का वरदान प्राप्त होता है। नेपोलियन के पश्चात, फ्रांस के पुराने राजवंश की जो 'बूरबों' वंश के नाम से प्रसिद्ध था, पुनर्स्थापना हुई। उस वंश के चित्त से यह बात दूर नहीं हुई थी कि देश को कोई अधिकार प्राप्त नहीं, समस्त अधिकार ईश्वर की ओर से केवल हमें प्राप्त हैं, आज हम जनता को जो कुछ देते हैं, कल उसे वापस ले सकते हैं। लुई १८ वें के घोषणा-पत्र में जनता के जिन अधिकारों का स्पष्ट उल्लेख था, उनके सम्बन्ध में उस राजवंश की यही धारणा थी कि हमने उन्हें प्रदान किया और हम जब चाहें तब उन्हें लौटा लें। इसीलिये जनता की उन्नति के कामों से इस राजवंश का चित्त कुंठित होता था। लोगों को बढ़ते हुए देख कर राजवंश मुँह फुलाता था। लोगों से यह बात छिपी न रही। राजवंश को अपने बल और बड़प्पन का घमण्ड था। वह समझता था कि नेपोलियन के उखड़ जाने के पश्चात्, अन्त में, फ्रांस को हमारी ही शरण लेनी पड़ी। अपने भूत मौलिक महत्व के कारण

बूरबों राजवंश इस समय फ्रांस को भी अपना मन्त्र-मुग्ध सेवक के समान समझता था। किन्तु अब रंग कुछ और ही था। फ्रांस केवल 'बूरबों' वंश ही का तो न था, फ्रांस पिछले २२ वर्ष तक बिना इस राजवंश के भी अपना निर्वाह कर चुका था। फिर जिन व्यक्तियों ने नेपोलियन के साम्राज्य को समाप्त कर दिया था 'बूरबों' वंश को जिस प्रकार फिर लौटा कर लाई थीं, उसी प्रकार वे उसे फिर उखाड़ कर फेंक सकती थीं। किंतु राजवंश की आँखों पर पर्दा पड़ा हुआ था। वह अपने ईश्वरदत्त अधिकारों ही के गर्व में भूला हुआ था। उसने जनता के अधिकारों पर हाथ डाला। उसके मत से यह अधिकार न थे केवल 'रिआयतें' थीं जो राजा ने दी थीं; किन्तु यथार्थ में जिन्हें वे 'रियायतों' के नाम से पुकारते थे वे जनता के विजय चिन्ह थे, जिन्हें वे जनता की छीनाझपटी की बातें कहते थे, वे जनता के अधिकार थे। अब 'बूरबों' राजवंश ने अपने बल के घमण्ड में फ्रांस के लोगों के अधिकारों पर हाथ डाला और 'आर्डिनेंसेज' (विशेष आज्ञायें) प्रचलित कीं, तब फ्रांस ऊब उठा, और अन्त में उसने १८३० में बादशाह चार्ल्स दशम को गद्दी से उतार दिया, और 'बूरबों' वंश को देश निकाला दे दिया। लोगों ने उस समय अभूत-पूर्व हृदय-विशालता दिखाई। कहीं हीनता न थी, कहीं हिंसा न थी। जो कुछ हुआ, पूरी शान्ति और गम्भीरता के साथ हुआ। किसी ने 'बूरबों' वंश का अपमान नहीं किया। उसके जाने का किसी को गम न था, किन्तु उसके गुणों और कृतियों पर किसी ने परदा डालने का प्रयत्न नहीं किया, और उनके लिये उसका

आदर भी होता रहा। वस्तु-स्थिति पर यह सत्य की विजय थी। सत्य सदैव शिव और सुन्दर होता है। जिस बात में सत्य नहीं होता, चाहे वह कितनी ही प्रचलित क्यों न हो, अन्त में वह बहुत दूषित और विकराल रूप धारण कर लेती है। प्रचलित बातें कुछ समय पश्चात् कितनी कुरूप और विकराल हो जाती हैं; यदि इसका अनुमान करना है तो आज शताब्दियों पश्चात्, मेकयावेली और उसके सिद्धान्तों के रूप को देखें। मेकयावेली न राक्षस है और न दुष्ट प्राणी ही, वह तो इस समय भी योरप भर की वस्तु-स्थिति के रूप का चित्र खींचने वाला है। उसकी बातों में सत्य नहीं है, इसलिये, आज उनका रूप कितना भयंकर है! समाज में जो हो रहा है और जो होना चाहिये, इसी सत्य के निर्णय का तो सब झगड़ा ही है। इस द्वन्द्वयुद्ध का अन्त करना, पवित्र आदर्शों को मानवीय व्यवहार के साथ मिला देना, व्यवहार में सत्य को और सत्य में व्यवहार को प्रविष्ट करा देना ही तो ज्ञानियों का काम है।

किन्तु ज्ञानियों और योग्यों में बड़ा अंतर है। इस युग के योग्यों का नाम है राजनीति-विशारद। आज जहाँ 'योग्यता' है वहाँ हीनता भी है। जहाँ आप 'योग्य' व्यक्ति पावें, वहाँ यही समझें कि 'योग्य' व्यक्तियों से केवल मध्यम श्रेणी के आदमियों से मतलब है; ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार राजनीति विशारद का अर्थ कभी २ देशद्रोही होता है। इन राजनीति विशारदों के मतानुसार १८३० की यह क्रांति शरीर की नसों के कट जाने के तुल्य है, उन नसों में तो तुरन्त पट्टी बँध जानी चाहिये। इन

महानुभावों को जनता की इच्छा की कोई परवा नहीं, वे अपने मतलब की तुक गढ़ लेते हैं; कहते हैं कि क्रांति के पश्चात्, जनता की, विशेष करके उस जनता की जिस पर किसी राजा की सत्ता रही हो, सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि कहीं से तुरंत एक राजवंश स्थापित किया जाय, जिससे देश में शांति बनी रहे, हरे घाव सूख जायँ, उजड़े घर बस जायँ। बस उनकी नजर में राजवंश ही सब रोगों का एक महा इलाज है। राजवंश भी वे ऐसा ढूंढ़ते हैं जो पुराना हो, और साथ ही, परिवर्तन से जिसकी सहानुभूति हो। किसी प्रतिभाशाली या साहसी व्यक्ति को वे राजा नहीं बनाना चाहते। व्यक्ति नहीं; वंश की वे खोज करते हैं, और वंश भी ऐसा, जो झुक कर आने के लिये तैयार हो। यह योग्य की एक बड़ी कला है। इससे वे एक ढेले से दो चिड़ियों का शिकार खेलते हैं, हारी बाजी को जीती करके दिखाते हैं; चलती हुई गाड़ी के पहिये में पत्थर का रोड़ा अटकाते हैं, उन्नति की गति को रोक देते हैं, बढ़ते हुए उत्साह को मंद कर देते हैं, इधर-उधर उड़ने वालों के पर और बाजू कतर देते हैं, बढ़ती हुई उमंगों को झांसा देकर समाप्त कर देते हैं, और जनता की शक्ति के स्रोत को दूसरे ओर घुमा कर व्यर्थ कर देते हैं। १८३० में ऐसा ही हुआ। १८३० की क्रांति बीच में रोक ली गई। उन्नति के पग आगे बढ़ने न पाये। देश के खुशहाल लोगों ने ऐसा किया। खुशहाल लोगों और 'यों यों' ने मिल कर आरलियन्स-वंश का एक व्यक्ति ढूँढ़ निकाला। वह था लुई फिलिप। लुई फिलिप फ्रांस का बादशाह बना दिया गया। धूम-धाम

से उसका राज-तिलक हुआ। जो कुछ हुआ, वह शुद्ध औचित्य के विरुद्ध था। औचित्य का उसमें कोई विचार ही नहीं किया गया था, इसलिये जहाँ जहाँ उस समय सत्य और औचित्य की भावनायें काम कर रही थीं, वहाँ वहाँ इन भावनाओं ने तीव्र स्वर में उस घटना का विरोध किया। किंतु यह ठीक नहीं हुआ कि वे केवल विरोध करके ही रह गईं।

* * * *

लुई फिलिप को बादशाह बनने के लिये हाथ-पैर नहीं मारना पड़ा। वह तो बादशाह बनाया गया। वह राजकुमार था ही, बादशाह बन जाना उसने अपना अधिकार और कर्तव्य दोनों माना। उसने जो कुछ किया, नेकनीयती से किया। इधर जनता के अधिकारों के सिद्धांत के आधार पर उसका जो विरोध हुआ, वह भी ठीक था, राजसत्ता और जनसत्ता का सामना था। दोनों अपने २ स्थान पर ठीक थीं। इन दोनों के संघर्षण से, समाज पिसा किंतु, आज समाज के लिये जो बात यन्त्रणा की होती है, कल वही उसके लिये सुख का कारण होती है। यथार्थ में, उन दोनों पक्षों में से एक ही पक्ष सत्य है। किन्तु जो असत्य पर है उसमें भी नेक-नीयती है। दोष किस पर दिया जाय? केवल यही कहा जा सकता है कि घटनाक्रम ही से ऐसे भीषण संघर्षण हुआ करते हैं। आरम्भ ही से, लुई फिलिप का विरोध हुआ। चारों ओर से उस पर बौछारें पड़ने लगीं। घटनाओं द्वारा परमात्मा रहस्यमयी भाषा में अपनी इच्छा प्रकट किया करता है। उस

भाषा को लोग अपने २ ढंग से गढ़ा करते हैं। बहुत ही थोड़े लोग उसके तत्व को समझते हैं शेष तो उसके नाना प्रकार के उलटे-सुलटे अर्थ लगाकर उनका प्रचार करते हैं। तात्विक लोग जब अपने अर्थ को लेकर आगे बढ़ते हैं तब उन्हें दिखाई देता है कि उस तत्व के तो बीसियों अर्थ के अनर्थ होकर सर्वत्र फैल चुके, और लोग अपनी अपनी डफली ले ले कर अपना २ राग अलाप रहे हैं। पुराने ढंग के लोग इस नये ढंग के विरोधी बनते हैं। वे क्रान्ति का अर्थ करते हैं 'विद्रोह'!! क्रान्ति तो यथार्थ में विद्रोह से उलटी वस्तु है। क्रान्ति के अवसर पर जनता विद्रोह नहीं करती, राजा विद्रोह करता है। प्रत्येक क्रान्ति एक स्वाभाविक रूप है, उसमें अस्तित्व का औचित्य स्वयं उसमें निहित रहता है, और जो किसी प्रकार भी—चाहे वह बदनाम किया जाय, और चाहे वह रक्तरंजित हो, मिटाये नहीं मिट सकता। क्रान्तियां आकस्मिक घटनाओं के कारण नहीं, आवश्यकता के कारण हुआ करती हैं। क्रांति तो कृत्रिम से अकृत्रिम की ओर आता है। क्रान्ति केवल इसलिये होती है कि उसे होना ही चाहिये। १८३० की इस क्रान्ति पर पुराने ढंग के लोगों ने भी आक्रमण किया। वे बोले, यदि क्रांति ही है, तो फिर नया बादशाह क्यों! यथार्थ में इन लोगों का यह विरोध क्रान्ति के प्रेम के कारण न था, उन्हें तो केवल प्रहार करना भर इष्ट था, किन्तु उनका प्रहार हुआ वस्तु-स्थिति के मर्म स्थान पर। उनकी दशा ठीक उन अन्धे आदमियों की सी थी जिन्होंने बिना देखे ही, ठीक निशाना मारा। इधर प्रजातन्त्रवादी थे, जिनका हल्ला बिलकुल ठीक था और जो

यह ठीक ठीक कहते थे कि एक राजवंश को हटाकर दूसरे को कायम करना मूर्खता है। इस बात से तो १८३० का दिवालिया-पन सिद्ध होता है। उसी संघर्षण के बीच में लुई फिलिप की सत्ता इधर से उधर दोनों ओर से धक्के खा रही थी।

बेकारी का कारण

[बाबूराव विष्णु पराड़कर]

(१)

आगरा युनिवर्सिटी के समावर्तन के अवसर पर सर शाह महम्मद सुलेमान ने जो भाषण किया था जिस पर कुछ कहना आवश्यक प्रतीत होता है। शिक्षित युवकों की बेकारी का उल्लेख करके आप कहते हैं—बेकारी से केवल शिक्षित ही नहीं प्रत्युत अशिक्षित जनता भी बहुत पीड़ित है। यह बहुत तेजी से बढ़नेवाली जनसंख्या का अपरिहार्य परिणाम है। हमारे इन अतिरिक्त लोगों के लिये दुनिया के निर्जनप्राय देशों में भी जगह नहीं है। हम अपने युवकों को पढ़ावें या न पढ़ावें, बेकारी तब तक दूर न होगी जब तक यह संख्यावृद्धि न रोकी जायगी। इसके बाद आप ने उद्योग धन्धों को बढ़ाने की सलाह दी है। ग्रामोद्योग के लिये जो यत्न किया जा रहा है उसकी प्रशंसा करते हुए नगरों में भी ऐसा ही उद्योग करने की सलाह दी है। अनन्तर कहते हैं कि "देशी उद्योगधन्धों को उत्तेजन देने और तैयार माल बेचने के लिये सुसंघटित योजना की आवश्यकता है। युवक और युवतियों को ऐसे उद्योगधन्धों की शिक्षा देने के लिये,

जिनमें अधिक पूंजी की जरूरत नहीं होती, हमें प्रथम श्रेणी के विशेषज्ञों की जरूरत है।" सर शाह महम्मद सुलेमान के इन विचारों से प्रत्येक विचारशील भारतवासी सहमत होगा। रोग का निदान और चिकित्सा दोनों ही ठीक हैं। विशेषकर हमें तो वह कारण बहुत ही ठीक मालूम होता है जो आपने बताया है। यद्यपि यह कहना सच नहीं है कि बेकारी का एकमात्र कारण जनवृद्धि है, पर इसमें भी सन्देह नहीं कि सबसे बड़ा कारण जनवृद्धि है। अवश्य ही पराधीनता से उत्पन्न हमारी राजनीतिक और आर्थिक अवशता भी बेकारी का एक उत्तेजक कारण हो रही है, पर इसे हम मुख्य स्थान नहीं दे सकते। राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से भारत कम से कम डेढ़ सौ वर्षों से पराधीन है और बेकारी गत कई दशकों की खेती है। यदि पराधीनता ही मुख्य कारण होती तो बेकारी इसके बहुत पहले, अर्थात् भारत में ब्रिटिश शासन प्रारम्भ हो जाने के दो चार दशकों के बाद ही उत्पन्न हो गयी होती। पर ऐसा नहीं हुआ। बेकारी जनवृद्धि के साथ साथ बढ़ती गयी है और पराधीनताजन्य हमारी आर्थिक अवशता उसका उद्दीपक कारण हो रही है।

आजकल स्कूल कालेजों में इतिहास जिस दृष्टि से पढ़ाया जाता है उसका यह स्वाभाविक फल है कि हमारे अधिकतर शिक्षित भाई हमारे इस कथन पर आश्चर्य करें कि भारत की राजनीतिक पराधीनता को हम डेढ़ सौ वर्ष की ही क्यों समझते हैं। अतः प्रसंगवश इस सम्बन्ध में दो शब्द कहना आवश्यक है। देश तब पराधीन कहलाता है जब अन्य देश के शासक

उसपर शासन करते हैं। इस अर्थ में भारत में मुस्लिम शासन का समग्र पराधीनता का समय नहीं कहा जा सकता। मुसलमान बाहर से आये जरूर, पर उनमें कुछ तो केवल सम्पत्ति लूटने और मन्दिर तोड़ने के लिये आये थे और यही राक्षसी कृत्य करके स्वदेश लौट गये। उन्होंने शासन नहीं किया। जो यहाँ शासन करने लगे वे यहीं बस गये और यहीं के हो गये। उनका अपने देश से कोई सम्बन्ध नहीं रह गया। अतः राजनीतिक दृष्टि से उनका शासन विदेशी नहीं कहा जा सकता और न वह काल भारत की पराधीनता का काल ही कहा जा सकता है। अवश्य ही हिन्दुओं के लिये यह अत्यन्त अपमान का काल था, इस काल में धार्मिक अत्याचार भी हुए और हिन्दुओं की प्रभुता और स्वतन्त्रता के साथ साथ उनका धन भी मुसलमानों के यहाँ गया। हिन्दुओं का यह समय लज्जाजनक, कष्टजनक और अपमानकारक मालूम हो इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं। आश्चर्य केवल यह है कि दोनों सम्प्रदायों के अबतक अलग रहने और परस्पर अविश्वास करने से, यद्यपि अब दोनों ही एक तीसरे के गुलाम हो गये हैं, अभी तक उस समय की एक ओर की कटु और दूसरी ओर की मधुर स्मृतियों का लोप नहीं हो रहा है। अब वस्तुतः भारत पराधीन है क्योंकि एक अन्य देश की सरकार इस देश पर शासन कर रही है और शासन का मुख्य रूप उस अन्य देश के प्रभुत्व में प्रकट होता है। महमूद गजनवी, महम्मद गोरी, अहमदशाह, नादिरशाह आदि ने भारत को बार बार लूटा पर उनकी सारी लूट की रकम उस रकम के बराबर नहीं

हो सकती जो विवश भारत को ब्रिटिश साम्राज्य को बढ़ाने वाले युद्धों में खर्च करनी पड़ी है। मुसलमान शासकों के समय भारत का धन विदेश नहीं जाता था पर आज सेना और शासन, व्यापार और वाणिज्य के रूप में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से प्रतिवर्ष राष्ट्रीय आय का लगभग चौथाई हिस्सा विदेश चला जा रहा है। इसके बदले में हमें विदेशी विशेषज्ञ मिलते हैं, और भारत में विशेष ज्ञान का लोप हो गया है। ब्रिटिश सैनिक भारत रक्षा के लिये (!) यहाँ आकर अड्डा जमाते हैं, और भारतवासी आत्मरक्षा के ज्ञान, कौशल और साधन सबसे वंचित हो गये हैं। विदेशी माल यहाँ खूब आता है और सस्ता बिकता है, और भारत के बच्चों को काम नहीं मिलता।

इस पराधीनता में, इस भयावनी अवस्था में हम आर्थिक दृष्टया बिलकुल बेकार हैं। हमारे सिक्कों का नियन्त्रण विदेशी करते हैं, हमारा स्टेट बैंक विदेशियों के हाथ में है, हमारी रेलें अनियंत्रित विदेशी शासकों के हाथ में हैं, हमारी जकात पर विदेशियों का कब्जा है, हमारा व्यवसाय-वाणिज्य भारत शासन-विधान की कई धाराओं से जकड़ कर बाँध दिया गया है। इस प्रकार पाठक देखेंगे कि सारे देश की आर्थिक दशा सुधारने के जितने साधन हो सकते हैं वे सब विदेशियों के हाथ में हैं। इस पर भी बला यह कि शासन और सेना का खर्च कम करके उद्योगधन्धों को उत्तेजन देने के लिये रकम बचाना हमारे हाथ की बात नहीं रह गयी है। इससे मालूम होगा कि पराधीनता हमारी बेकारी का न केवल आंशिक कारण ही है बल्कि वह उसे

दूर करने में बाधक भी हो रही है। पर जैसा कि ऊपर कहा गया है, यह मुख्य कारण नहीं है। होता तो बेकारी ब्रिटिश शासन के दृढ़ स्थापित हो जाने के कुछ दशकों के बाद से ही दृष्टिगोचर होने लगती। पर ऐसा नहीं हुआ। इसके विपरीत यह स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि जनसंख्या ज्यों ज्यों बढ़ रही है, बेकारी भी उसके साथ साथ बढ़ती जा रही है। खेद की बात है कि इस ओर हमारे नेता ध्यान नहीं दे रहे हैं। न्याय-विभाग के उच्चतम पद पर होते हुए भी सर शाह महम्मद सुलेमान ने इस विषय की चर्चा एक युनिवर्सिटी के समावर्तन के अवसर पर की है, इसके लिये हम आपको बधाई दिये बिना नहीं रह सकते। जनसंख्या की वृद्धि हमारे मत से बेकारी का मुख्य कारण है। जो इसे गौण कारण समझते हैं उनसे हमारा झगड़ा नहीं है। मुख्य हो या गौण, कारण अवश्य है और इसे दूर करने का यत्न करना प्रत्येक विचारशील समाज और देश के सेवक का कर्तव्य है।

---

(२)

भिखमंगी और पराधीनता

पुरानी कहावत है—'उत्तम खेती, मद्धिम बान, निषिध सेवा, भीख निदान।' सब वृत्तियों में भिक्षावृत्ति सबसे बुरी बतायी गयी है। पर इसका एक दूसरा रूप है। हमारा प्राचीन आदर्श है कि

जो अपने ज्ञान या तप से समाज की सेवा करते हैं। उन्हें भिक्षा से उदर-पूर्ति करनी चाहिये। ये बड़े आदर की दृष्टि से देखे जाते थे और आज भी देखे जाते हैं। मूलतः हमारे यहाँ की दान-व्यवस्था ऐसे महात्माओं की सेवा के लिये ही थी। पर अब इसका रूप विकृत हो गया है। दान या तो जाति या आश्रम-विशेषके लोगों को, या बिना विचार के, या नाम कमाने के लिये दिया जाता है। सात्त्विक दान कम होता है और दानपात्र उससे भी कम हो गये हैं। एक प्रसिद्ध श्लोक है—'दरिद्रान् भर कौन्तेय मा प्रयच्छेश्वरे धनम्। व्याधितस्यौषधं पथ्यं नीरुजस्य किमौषधैः।' अर्थ—हे कौंतेय (अर्जुन या युधिष्ठिर), दरिद्रों का पालन करो, अमीर को मत दो। रोगी को ही दवा देने से लाभ होता है। नीरोग को दवा से क्या होगा? नुकसान होगा। हो भी रहा है। दान के धन का उपयोग भयंकर दुराचारों में होते बहुतों ने देखा होगा। दान दी हुई गाय कसाई के घर भी पहुँच जाती है। बिना विचारे दान देने का यह कुफल है। पर समाज इतना विचार-हीन हो गया है कि देखकर भी नहीं देखता। सिर्फ लकीर का फकीर बना रहना चाहता है। पर यह लकीर भी बहुत पुरानी नहीं है। प्राचीन ग्रन्थों में बिना विचारे, बिना पात्र की परीक्षा किये दान देने की सख्त मनाही पायी जाती है। उद्धृत श्लोक में केवल दरिद्रोंके पालन की आज्ञा नहीं है, साथ ही स्पष्ट शब्दों में 'मा प्रयच्छेश्वरे धनम्' भी कहा गया है। पर इसपर विचार कौन करता है? बिना विचार के दान दिया जाता है और वह समाज के लिये घातक हो रहा है। अच्छे काम का बुरा फल यहीं देखने

को मिलता है, क्योंकि बिना विचार के किया हुआ अच्छा काम भी बुरा हो जाता है।

हमारे इस अविवेक का ही परिणाम भिखमंगों की संख्या का बढ़ना है। इस देश में प्रतिशत दस आदमी ऐसे होंगे जो समाज के रक्तपर जीविका-निर्वाह करते हैं और बड़े आनन्द में दिन काटते हैं। इनके बाद उनका वर्ग है जो राह चलतों को घेर कर, मकानों के दरवाजों पर चिल्लाकर और कभी-कभी मकानों में घुस कर भी, मन्दिरों में आने जानेवालों को पकड़कर भीख माँगा करते हैं। इनके कारण लोग रोज तंग आते हैं पर इनसे पिण्ड छुड़ाने का कोई उपाय दिखाई नहीं देता। कारण, प्रश्न जैसा मालूम होता है वैसा सरल नहीं है। संयुक्त प्रान्त की असेम्बली में श्री देव-नारायण भरतीया ने इस आशय का प्रस्ताव उपस्थित किया था कि सरकार को कानून बनाकर राह में भीख माँगना दण्डनीय अपराध करार देना चाहिये। अवश्य ही यह प्रस्ताव पास नहीं हुआ और न होना ही चाहिये था। न होनेका मुख्य कारण यह है कि भीख मांगनेवालों में कुछ सचमुच असमर्थ और दरिद्र होते हैं। इनके पालन-पोषण की व्यवस्था किये बिना राह में भीख माँगना बन्द नहीं किया जा सकता। वस्तुतः दरिद्री और असमर्थ होते हैं, इसका प्रमाण कलकत्ते में मिला है जहाँ एक आदमी बिना दाना-पानी के सड़क की पटरी पर गिरकर मर गया। काशी में सड़कों पर भूख और रोग से छटपटानेवाले अनाथों को किसने नहीं देखा है? इनकी भीख भी बन्द की जायगी तो सिवा मरने के इनके लिये कोई उपाय ही न रह जायगा। भीख बन्द करने

के पहले शहर-शहर और तहसील-तहसील में अनाथगृह और उद्योगशालाएँ खोलने की आवश्यकता है जहाँ असमर्थों को अन्न, वस्त्र और आश्रय मिले और बेकारों को काम। पर क्या उस देश में यह सम्भव है जहाँ आधे से अधिक आदमी पेट भर खाना नहीं पाते और प्रतिशत २५ बेकार हैं? यह सोचने की बात है। अतः जब तक सारे देश की—केवल कुछ अमीरों की ही नहीं—आर्थिक दशा सुधारी नहीं जाती तब तक भिखमंगी रोकना भी सम्भव नहीं है। हम यह मानते हैं और प्रत्येक विचारशील मनुष्य को मानना ही पड़ेगा कि जितने आदमी भीख मांगते हैं वे सब गरीब असमर्थ नहीं हैं। इनमें सैकड़ा नब्बे ऐसे हैं जिनका पेशा भीख मांगना है और इनमें भी कुछ तो ऐसे हैं जिनका पेशा चोरी करना, ठगना और भले घरों की बहू-बेटियों को भगा ले जाना है। इनको दण्ड देने में—इनकी यह वृत्ति बन्द करने में ही समाज का हित है, पर प्रश्न तो यह है कि सच्चे असमर्थ दरिद्रों के लिये यमपुरी का द्वार खोल दिये बिना समाज की इन जोंकों का मुँह कैसे बन्द किया जाय।

व्यापक दृष्टि से देखा जाय तो यह प्रश्न देश की दरिद्रता के प्रश्न का एक अंग है। भीख भी समाज से ही मिलती है तो भीख बन्द करके अनाथालय खोलना समाज के लिये असम्भव न होना चाहिये, यह बात सच है। पर यहाँ समाज का अज्ञान बाधक होता है। लोग परम्परागत रीति से दान करेंगे, कभी इच्छा से और कभी तंग आकर और कभी कभी डरकर राह चलतों को, द्वार पर चिल्लानेवालों को या घर में घुस आये [illegible] को भीख

दे देंगे पर अनाथालयों के लिये चन्दा अथवा दरिद्र-प्रतिपालन के लिये छोटा सा कर न देंगे। इस प्रवृत्ति को सरकार कानून बनाकर उलट नहीं दे सकती। सरकार कर सकती है सर्वसाधारण की आर्थिक अवस्था सुधारने का यत्न। प्रान्तों में यह प्रारम्भ भी हो गया है। पर इसकी सफलता में बाधक है प्रांतीय सरकारों के अधिकारों की सीमा जिसके बाहर वे जा नहीं सकतीं। केन्द्रीय सरकार चाहे तो बहुत कुछ कर सकती है, खर्च घटाने में भी और उद्योगधन्धे बढ़ाने में भी, पर वह स्वयम् एक विदेशी सरकार की चेरी है, स्वयम् कुछ कर नहीं सकती, और बालकिन विदेशी होने के कारण उसका दृष्टिकोण भी विदेशी है। कुछ दिन हुए केन्द्रीय असेम्बली ने ओटावा समझौता अस्वीकृत कर दिया था पर केन्द्रीय सरकार ने जबर्दस्ती उसे तबतक के लिये इस अभागे देश के सिर पर लाद दिया जबतक ब्रिटेन के साथ नया व्यापार-समझौता न हो जाय। केन्द्रीय सरकार के विदेशी दृष्टिकोण का यह एक उदाहरण है। ऐसी और भी बहुत सी बातें हैं जिनके कारण देश की आर्थिक दशा सुधारने में बाधा होती है। इस प्रकार विचार करके देखने से मालूम होगा कि भिखमंगी का प्रश्न अन्ततोगत्वा हमारी पराधीनता के प्रश्न का एक अंग है। जब तक हम पराधीन हैं तबतक भिखमंगी हमारी सहचरी बनी ही रहेगी।

गार्हस्थ्य-जीवन में क्रान्ति

[माननीया श्रीमती विजयालक्ष्मी पंडित]

भारतीय स्त्रियाँ गृह-देवियाँ हैं। जन्म से ही वे अपने कुटुम्बियों के प्रेम में पलती हैं; प्रत्येक मनुष्य उनका संरक्षण करता है और संसार की अमूल्य तथा पवित्र विभूति की भाँति, उनकी रक्षा की जाती है।

परन्तु सभ्यता के इस युग में पुरुषों के इतना ध्यान करने तथा सुख देने के प्रयत्न पर भी उन्होंने इस बंधन को भंग कर देने का निश्चय कर लिया है।

× × ×

यदि किसी देश का नारी-समाज पुरुषों की अपेक्षा पिछड़ा हुआ है तो यह निश्चित है कि उसके पास सभ्यता की दीवार को स्थायी आधार पर निर्माण करने के लिए नैसर्गिक साधनों का अभाव होगा।

सृष्टि के इतिहास के प्रारम्भ काल से ही मनुष्य-जाति ने निर्बलों को धार्मिक अस्त्रों-द्वारा अपने वश में रखा है। पश्चिमीय नारी-समाज उस कठोर बंधन को रोज़-ब-रोज़ तोड़ता जा रहा है परन्तु भारत का स्त्री-समाज अभी उसी प्रकार बंधन में है।

× × ×

भारतवर्ष की स्त्रियों का लालन-पालन बाह्य संसार की अनभिज्ञता में होता है। भारतीय बालिकायें अपने पिता की सम्पत्ति हैं; वह उन्हें विवाह के अवसर पर दान दे देता है। तदुपरान्त वे अपने पति की सम्पत्ति हो जाती हैं और उनका सम्पूर्ण जीवन भक्ति तथा सेवा-कार्यों में ही व्यतीत होता है।

× × ×

अन्ध भक्ति के युग ने स्त्रियों पर अपनी एक अमिट छाप छोड़ी है। उनमें तर्क की शक्ति नहीं रह गई तथा अपने उत्तरदायित्व को दूसरों के ऊपर डालने में उन्हें प्रसन्नता प्राप्त होती है। समाज ने स्त्री को अपने पति की परछाईं बनाना चाहा तथा वे बन भी गईं।

परन्तु संसार बदल गया है; एक पीढ़ी पुराना स्त्री-समाज क्रान्ति के पथ पर अग्रसर हो रहा है तथा उसका स्थान एक दूसरे प्रकार का स्त्री-समाज ग्रहण कर रहा है। स्वतंत्रता के प्रथम अनुभव का परिणाम चाहे जैसा हो परन्तु उसे अपने ऊपर अधिकार प्राप्त करने के लिए समय की आवश्यकता है।

× × ×

इतिहास के वर्तमान युग में सभ्यता पर विशेष कर पुरुषों का ही अधिकार रहा है तथा स्त्रियों ने किसी किसी स्थान पर पाकगृह को केवल समाज का एक सुन्दर तथा शोभापूर्ण अंग बनने के अभिप्राय से त्याग दिया है। परन्तु अधिक समय तक वह सुन्दरता की वस्तु के समान ही नहीं रखी जा सकती।

पुरुष की भाँति ही स्त्री भी मानव-सभ्यता के लिए परमावश्यक है। आज वह पुरुषों के जीविकोपार्जन के साधनों पर एकमात्र स्वामित्व होने के विरुद्ध ही नहीं लड़ रही है वरन् सभ्यता पर पुरुषों का जो एकमात्र स्वामित्व है उसका भी विरोध कर रही है क्योंकि ऐसी कोई सभ्यता हो ही नहीं सकती जिसमें स्त्री तथा पुरुष समभागी न हों। बिना दोनों के प्रयत्न के किसी भी जाति अथवा राष्ट्र का निर्माण नहीं हुआ। बिना स्त्री-पुरुष दोनों के स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए अग्रसर हुए उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

× × ×

स्त्री-समाज को पुरुष-जाति के साथ समता, सहकारिता तथा विश्वास के साथ अग्रसर होना चाहिए। उसे समता की भावना पर जीवन के प्रत्येक विभाग में पुरुष के साथ भारतीय इतिहास का निर्माण करना चाहिए। केवल तभी भारतीय राष्ट्र में एकता तथा विकासोन्नति की प्राप्ति हो सकती है।

भयंकर गरीबी बनाम सन्तान-निग्रह

[श्रीमती गंगा देवी वर्मा]

'एक ओर असह्य वेदना, दुर्भिक्ष, महामारी एवं मृत्यु की अनन्त संख्या तथा दूसरी ओर जान बूझकर वैज्ञानिक भित्ति पर नियंत्रित पैदाइश की औसत—मानव समाज को आज इन दो में से एक को चुन लेना है।'

उपर्युक्त उद्गार इङ्गलैण्ड के सुधारवादी मजदूर दल के पत्र 'डेली हेरल्ड' का है। परन्तु क्या वास्तव में मानव समाज को इन्हीं दो में से एक को चुन लेना है ? क्या सचमुच आज दुनिया निराशा के उस छोर पर खड़ी सर्वनाश की चिनगारियाँ बटोर रही है, जहाँ जन-संख्या की वृद्धि समाज के लिये घातक हो उठी है ? क्या जनता की आर्थिक दुर्व्यवस्था का प्रतिकार जन-संख्या की वृद्धि रोकने से संभव हो सकता है ? क्या आबादी की वृद्धि ही वह ज्वालामुखी है, जिसकी विकराल लपटों में आज मानव-जगत ध्वंस हो रहा है ? दुनिया का सौभाग्य कहिये, कि वह ऐसी परिस्थिति में न है और न कभी होगी। हम मानते हैं कि आज मानव समाज के सामने कुछेक उलझन-पूर्ण एवं विकट समस्याएँ हैं जरूर, किन्तु वे 'डेली हेरल्ड' के 'आल्टर्नेटिव्स' से बिल्कुल

भिन्न हैं। अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के विद्वान् अर्थशास्त्री स्वर्गीय सरजार्ज निक्स ने हिसाब लगा कर यह स्पष्ट कर दिया था कि उत्पादन के जो वर्तमान साधन हैं उनसे वर्तमान आबादी से चौगुने व्यक्तियों के भरण-पोषण की सामग्री पैदा की जा सकती है। १९२२ में जेनेवा में होने वाले विश्व आर्थिक सम्मेलन की रिपोर्ट से पता चलता है कि १९२५ तक महायुद्ध प्रारम्भ होने के समय की अपेक्षा जन-संख्या की बढ़ती जहाँ ५ प्रतिशत हुई थी वहाँ भोजन-सामग्रियों तथा कच्चे माल में १६ से १२ प्रतिशत तक की वृद्धि हुई थी। राष्ट्रसंघ के अर्थ विभाग के अनुसार १९१३ और २८ के बीच जहाँ खाद्य सामग्री और कच्चे माल की उपज में २५ प्रतिशत की वृद्धि हुई, वहाँ जन-संख्या में केवल १० प्रतिशत की वृद्धि हुई। १९२३ से २५ तक की पैदावार को यदि हम १०० मान लें, तो संसार के 'प्राइमरी प्रोडक्ट' में १९२६ के अन्त तक १३४, सन् १९२८ तक, १६१, सन् १९३० तक २१५, सन् १९३१ तक २६४ की वृद्धि हुई और मंदी के युग में पूंजीपतियों द्वारा बहुत से सामान नष्ट कर देने पर भी १९३२ के आंकड़े में २६३ की वृद्धि बतलाते हैं। इसी अनुपात से पूंजीवादी उत्पादन के कारण करोड़ों मशीनों और मनुष्यों के बेकार रहने पर भी कल-कारखानों से पैदा होनेवाली चीजों की भी वृद्धि हुई। १९१३ से १९२८ के बीच संसार में अनाज के व्यापार में १४७ प्रतिशत की वृद्धि हुई और इन्हीं वर्षों की जन-संख्या की वृद्धि देखिये तो केवल ११० है। इस प्रकार देखते हैं कि जन-संख्या वृद्धि और गरीबी का कोई सम्बन्ध नहीं है।

जन-संख्या को संसार की गरीबी का कारण बतलाने वाली उक्ति सर्वथा, थोथी और निरर्थक है।

सच बात तो यह है कि सामाजिक विकास नापने के लिये जन-संख्या का पैमाना ठीक नहीं है। समाज का विकास और समाज की समृद्धि जन-संख्या पर निर्भर नहीं है, वरन् जन-संख्या ही समाज के विकास पर अवलम्बित है। आज जब समाज का विकास हुआ है, तो जीवन के साधन अनिवार्य रूप से बढ़ेंगे, और जब जीवन के साधन बढ़ रहे हैं तो इधर जन-संख्या की भी वृद्धि होगी। ऊपर दिए हुए आंकड़े इस बात को बता रहे हैं कि समाज की समृद्धिशीलता के अनुसार ही आबादी बढ़ती है। इस बात की कल्पना तो बिल्कुल बच्चे जैसी होगी, कि एक दिन ऐसा आयेगा कि आदमी दुनिया की समस्त खाद्य-सामग्री उदरस्थ कर लेगी और फिर केवल उपवास के सिवा अन्य साधन नहीं रहेगा। आबादी तो उतनी ही बढ़ेगी, जितनी कि समाज में उपभोग की सामग्री होगी। वस्तुतः जन-संख्या तथा समाज के उत्पत्ति-साधनों के विकास में बहुत गहरा सम्बन्ध है। कुछ लोगों की यह धारणा है कि मनुष्य में जन-संख्या उसी गति से बढ़ रही है, जिस गति से पशुओं में। किन्तु सच बात तो यह है कि मानव-समाज में जन-संख्या की वृद्धि एक विकट पहेली है और वह कई बातों पर निर्भर है।

× × ×

कार्ल मार्क्स ने लिखा है—उत्पादन के प्रत्येक ऐतिहासिक रूप का जन-संख्या के सम्बन्ध, उसीकी सीमा के भीतर, ऐति-

हासिक दृष्टि से उचित, अपना विशेष नियम होता है। कार्ल मार्क्स के इस नियम के अनुसार, पूंजीवादी प्रोफेसरों के जन-संख्या सम्बन्धी विचारों की जाँच कीजिये, तो पता चले, कि उनके निष्कर्षों और यथार्थ के बीच में जो भेद है उसका रहस्य क्या है। एक ओर तो पूंजीपति खेतों की लहलहाती फसलें ध्वंस करते हैं, गन्ने की होली जलाते हैं, कपड़ों की हजारों गाँठें समुद्र और नदियों के अथाह गर्भ में डाल देते हैं, कल-पुर्जों से सुसज्जित कारखानों में ताले लगाते हैं, और दूसरी ओर पूंजीवादी प्रोफेसर यह कहते फिरते हैं कि जन-संख्या की वृद्धि इतनी तीव्र गति से हो रही है कि दुनिया की पैदावार, उसको खाद्य-सामग्री देने में असमर्थ है! यह दोनों अजीब विरोधात्मक बातें हैं।

प्रश्न किया जा सकता है कि आखिर इस प्रत्येक असंगत-पूर्ण बात का रहस्य क्या है? इसका रहस्य यों समझिये; उत्पादन के पूंजीवादी रूप में जिसमें सम्पत्ति पर व्यक्तियों का अधिकार है, और जिसमें उत्पादन केवल मुनाफे के लिये किया जाता है, पूंजी कुछ इने-गिने हाथों में एकत्र हो गयी है, और शेष जनता की गरीबी उस हद तक पहुँच गयी है, जहाँ उसकी क्रय-शक्ति शून्य के बराबर हो रही है। बाजारों में माल की गोदामें सड़ रही हैं, परन्तु नङ्गी, त्रस्त जनता पैसे-पैसे के लिये बेजार हो रही है। फलतः पूंजीपति अपना माल बेच नहीं पाता, और अधिक उत्पादन करने से इन्कार करता है। इस प्रकार समाज के पूंजीवादी संगठन-पक्ष और उत्पादन की शक्तियों में घोर संघर्ष मचा हुआ है। एक ओर उत्पादक शक्तियों का संकेत है कि,

पूंजीवादी व्यवस्था तोड़ दी जाय, सम्पत्ति पर समस्त समाज का अधिकार हो, उत्पादन मुनाफे के लिये नहीं, प्रत्युत समाज के कल्याण के लिये हो, और दूसरी ओर पूंजीवाद के उपासक यह चाहते हैं कि उत्पादन की शक्ति को ही कुचल डाला जाए।

उत्पादक शक्ति के दो अंग हैं—मशीन और मनुष्य। अतः पूंजीवादी इन दोनों को भी कुचल डालने की चेष्टा में हैं। कल-कारखाने तो बन्द हो ही रहे हैं, मनुष्य का पैदा होना भी बन्द कर दिया जाए। यही कारण है, जो पूंजीवाद के उपासक, भूखों और नंगों से भरी दुनिया की छाती पर बैठकर जन-संख्या-वृद्धि रोकने की रट लगाये हुए हैं और उस रट की ओट में अपना मतलब गांठ रहे हैं।

धर्म को कार्ल मार्क्स ने जनता के लिये अफीम बताया है। आबादी का सवाल भी ठीक उसी अर्थ में अफीम का काम दे रहा है। जिस प्रकार हिन्दू दार्शनिक ने गरीब की गरीबी की व्याख्या उसके पूर्व कर्मों के आधार पर की है उसी प्रकार पादरी माल्थस ने मजदूर की आर्थिक परेशानी की व्याख्या पापी मनुष्य की संतान पैदा करने की इच्छा के आधार पर की है। इन दोनों व्याख्याओं में कोई मौलिक भेद नहीं है। दोनों ही बिना किसी बाधा के 'अफीम' का काम कर रही हैं। इन दोनों के ही मायाजाल में फँस कर हम भूल रहे हैं कि इस मशीन-युग में दुनिया की गरीबी की सोलहों आने जिम्मेदारी पूंजीवाद पर है।

खद्दर व साम्यवाद

[*आचार्य कृपलानी*]

आज कल सब तरफ साम्यवाद की चर्चा है। सभी स्थानों पर साम्यवादियों की सभा-समितियाँ बड़े वेग से खुल रही हैं। यह हवा केवल भारत में ही नहीं, परन्तु सम्पूर्ण संसार में बह रही है। साम्यवाद आज के समय की लहर दीखती है। संसार के बहुत से प्रतिभाशाली विद्वानों को इसने अपनी ओर आकृष्ट कर लिया है। साम्यवाद के विरोधी फासिज्म और नाजिज्म भी आज साम्यवाद का बाना पहन कर और उसी की भाषा में हमारे सामने उपस्थित हो रहे हैं। हमें यह देखना चाहिये कि क्या खादी को भी साम्यवाद की भाषा में उचित और न्याय्य ठहराया जा सकता है। जिन आन्दोलनों का एक ही उद्देश्य—मानव-जाति की उन्नति हो उनमें परस्पर कोई संघर्ष नहीं रहना चाहिये, यह भी अत्यन्त आवश्यक है।

साम्यवाद का तत्त्व

समस्या के दार्शनिक और वैज्ञानिक अध्ययन के लिये हमें यह बहुत अच्छी तरह से समझ लेना चाहिये कि साम्यवाद का

मुख्य उद्देश्य और तत्त्व क्या है ? यदि हम अपने हृदय में बिना कोई पूर्व-धारणा किये निष्पक्ष दृष्टि से विचार करें तो हम यह निस्सन्देह स्वीकार कर लेंगे कि धर्म, ब्रह्मचर्य, पारिवारिक जीवन, राष्ट्र, व्यवसायवाद तथा अन्य ऐसे अनेक प्रश्न, जिन्हें इस समय अर्ध-शिक्षित और साधारण मस्तिष्क साम्यवाद से सम्बद्ध मानता है, वस्तुतः इसके मूलभूत प्रश्न नहीं हैं।

साम्यवाद का तत्व वस्तुतः इसके 'अतिरिक्त मूल्य' (Surplus value) के सिद्धान्त में (ठीक हो या ग़लत) विद्यमान है। इसी 'अतिरिक्त मूल्य' के द्वारा ही जनता को (पूंजीपति) लूटते हैं। यही 'अतिरिक्त कीमत' लाभ, लगान और ब्याज का रूप धारण करती है। ऐसे व्यवसाय को, जिसमें 'अतिरिक्त मूल्य' अर्थात् लाभ, लगान या ब्याज की गुंजायश नहीं है, साम्यवाद के सिद्धान्तों के अनुकूल ही मानना चाहिये। कोई व्यवसाय साम्यवाद के सिद्धान्तों के अनुकूल है या नहीं, इसकी परीक्षा के लिये यह जानना आवश्यक नहीं है कि उस व्यवसाय का संचालक या प्रबन्धकर्त्ता परमात्मा में विश्वास करनेवाला है या प्रकृतिवादी, स्त्री-पुरुष सम्बन्धी दृष्टि से एक विचार को मानता है या दूसरे विचार को, अथवा व्यवसायवाद (Industriali-zation) में विश्वास करता है या नहीं। आवश्यकता तो इस बात की है कि वह साम्यवाद के तत्त्व को स्वीकार करता हो।

खादी में साम्यवाद

खादी व्यवसाय में न अतिरिक्त कीमत की गुंजायश है, न

लगान, ब्याज और लाभ की। सब आय काम करने वालों की ही जेब में जाती है। किसी दूसरे दल को चाहे वह वास्तविक या काल्पनिक कार्य भी करता हो, कुछ नहीं दिया जाता। काम करने वालों के वेतनों में भी बहुत अन्तर नहीं होता। कुछ अंक इसे और भी स्पष्ट कर देंगे। एक बुनकर की मासिक आय औसतन्, १३) रु० से १५) रु० तक है। धोबी १२) से १५) रु० तक, रंगसाज़ २५) से ३०) रु० तक और बढ़ई २५) से ३०) रु० तक महीने में कमा लेते हैं। कतैये की आय जरूर कम है, परन्तु कातना सारे दिन का पेशा नहीं है, यह तो केवल खाली समय का उपयोग है। दूसरी ओर खादी के संगठनकर्ताओं का भी पारिश्रमिक २५) रु० है, यद्यपि उनमें से अनेक उच्च शिक्षित भी होते हैं।

राष्ट्र की सम्पत्ति

'अतिरिक्त कीमत' के सिद्धान्त के परिणाम स्वरूप ही साम्यवादियों ने सम्पूर्ण उत्पत्ति-साधनों के राष्ट्रीयकरण (राष्ट्र की सम्पत्ति बनाने) का सिद्धान्त स्थिर किया है। जहाँ तक खादी का सम्बन्ध है, चरखा और खड्डी ही उत्पत्ति के साधन हैं। इनके राष्ट्रीयकरण की आवश्यकता नहीं, क्योंकि इनका व्यय इतना कम होता है कि प्रत्येक ग्राम-निवासी इनका खर्च बरदाश्त कर सकता है। जहाँ कोई ग्राम-निवासी काम करना चाहता है, परन्तु चरखा और खड्डी नहीं ले सकता, वहाँ चरखा-संघ—जो सार्वजनिक संस्था है—उसकी सहायता

करता है। उत्पत्ति के ये सभी-सारे साधन वस्तुतः राष्ट्रीय साधनों से किसी तरह कम नहीं हैं।

पूँजी भी

उत्पत्ति का दूसरा प्रधान साधन पूँजी है। यह भी चरखा-संघ के हाथ में होने के कारण राष्ट्र की ही सम्पत्ति है। यह ऐसी सार्वजनिक सम्पत्ति है, जिस पर न लगान मिलता है, न व्याज या लाभ। खद्दर पैदा करने वाले जो थोड़े बहुत निजी कारोबार हैं, उन्हें भी चरखा-संघ द्वारा स्थापित आदर्शों का अनुकरण करना पड़ता है। उनके हिसाब-किताब व मूल्य-निर्धारण पर चरखा-संघ का निरीक्षण और नियन्त्रण रहता है। उन्हें चरखा-संघ की प्रतिस्पर्धा का मुकाबला करना पड़ता है, इसलिये उन्हें केवल उतने ही लाभ से सन्तोष करना पड़ता है, जिससे वे अपने मामूली वेतन निकाल सकें। वस्तुतः खादी का सारा व्यवसाय ही साम्यवाद का एक परीक्षण और साम्यवाद की दिशा में ही एक साहस है। मुझे इस में कोई सन्देह नहीं है कि यदि आज की विदेशी सरकार के स्थान पर देशी सरकार कायम हो जाय, तो किसानों के लाभ के लिए राष्ट्रीय-सरकार ही खादी के राष्ट्रीय-व्यवसाय का संगठन करेगी।

खादी आन्दोलन का आधार

साम्यवाद के तर्क का आधार प्रत्यक्ष घटनाओं का अध्ययन ही है। आज चाहे भारतीय साम्यवादी पश्चिम से बड़ी भारी

मात्रा में आते हुए साम्यवाद सम्बन्धी या बोलशेविक साहित्य को कितनी ही लालचभरी निगाहों से क्यों न देखें, यह किसी तरह नहीं कहा जा सकता कि साम्यवाद के सभी सिद्धान्तों का आधार वस्तुतः प्रत्यक्ष व ठोस घटनाओं का अध्ययन ही है। वे यथार्थ-वादी हैं। सम्पूर्ण साम्यवादी दार्शनिकों का यह दावा है। परन्तु किसी प्रकार के पूर्व-निर्धारित विचारों, प्राचीन, अर्वाचीन, ऐतिहासिक, धार्मिक या वैज्ञानिक धारणाओं पर खादी के आन्दोलन का आधार नहीं है। इसका तो मुख्य आधार सात लाख गाँवों में होने वाली रोजमर्रा की प्रत्यक्ष और ठोस घटनाओं पर—दरिद्र किसानों व परिश्रमियों के दुःख व दारिद्र्यमय जीवन पर है।

चरखा और क्रान्ति

साम्यवाद अन्य बातों के साथ क्रान्ति में भी विश्वास करता है। चरखा भी न केवल स्वयं घूमता रहता है, परन्तु अन्य अनेक दार्शनिक क्रान्तियों का भी प्रेरक कारण है। अशिक्षित जनता हिंसात्मक उथल-पुथल को ही क्रान्ति समझती है। परन्तु वास्तविक क्रान्ति विचारों के संशोधन, परिमार्जन और पुनर्गठन में—विचारधारा या दृष्टिकोण के परिवर्तन में है। इस दृष्टि से खादी आन्दोलन ने जितनी सर्वाङ्गीण क्रान्ति की है उतनी किसी अन्य आन्दोलन ने नहीं। किसी एक क्षेत्र में ही नहीं, प्रायः सभी क्षेत्रों में इसने क्रान्ति की है। जिसमें हम सम्मान समझते थे अब उसमें अपमान समझने लगे हैं; जिसमें पहले अपमान था, अब उसमें सम्मान दीखने लगा है। पहले का सुन्दर अब बुरा दीखने

लगा है और पहले की कुरूप वस्तु में हम सौन्दर्य ढूँढ़ने लगे हैं। सुन्दरता, कला, आवश्यकता और स्वास्थ्य सभी खादी के कारण बदल गई हैं। चरखे ने केवल साधारण जनता के ही नहीं, परन्तु श्रेणियों के भी अर्थशास्त्र-सम्बन्धी विचारों में परिवर्तन कर दिया है।

गांधीवाद और साम्यवाद की तुलना

[कर्मवीर पं० सुन्दरलाल]

गांधीवाद और साम्यवाद में कोई अन्तर नहीं है। गांधी और लेनिन दोनों महापुरुष और मनुष्य-जाति के सेवक हैं। तपस्या और कष्ट सहन में लेनिन गांधीजी से भी बढ़े हुए हैं। दोनों में मतभेद है, पर समानता अधिक है। कार्ल मार्क्स संसार के प्रतिभावान व्यक्तियों में से एक और पददलित मानव-समाज के सच्चे सेवक थे। वे आधुनिक युग के ऋषि थे। अभी तक गांधीवाद नाम की कोई चीज करार नहीं पाई गई। मैं गांधीजी के निकट रहता हूँ, पर मैं गांधीवाद को ठीक से समझता नहीं। वास्तव में गांधीवाद नाम की कोई स्पष्ट दर्शन अथवा आर्थिक विचार-प्रणाली नहीं है। साम्यवाद उससे भी अधिक स्पष्ट है। दुनिया में कितने प्रकार का साम्यवाद है। मैकडानेल्ड, हिटलर, लेनिन, स्टैलिन सभी साम्यवादी कहलाते हैं। गांधीवाद और साम्यवाद दोनों की ख्वाहिश है कि जनता के हाथ में ताकत आये। जो लोग गांधीजी को पूंजीपतियों का एजेण्ट कहते हैं, उनसे मुझे कुछ नहीं कहना है। गांधीजी की दरिद्रनारायण की सेवा उनका अस्पृश्यता-निवारण का आन्दोलन, साम्यवाद के ही विभिन्न रूप हैं।

'गांधीवाद और साम्यवाद में तरीकों और दृष्टिकोण में बड़ा गहरा फरक है। ऐतिहासिक पदार्थवाद का सिद्धान्त बिलकुल सच्चा सिद्धांत है। इस दृष्टिकोण से आप तवारीख को पढ़ सकते हैं। पर इतिहास पर आध्यात्मिक दृष्टिकोण से भी विचार किया जा सकता है। यह दृष्टिकोण अधिक सत्य है। दुनिया अपने पेट के सहारे भी चलती है, और दिल के सहारे भी; पर दिल पेट से अधिक महत्व रखता है। मेरे ख्याल से इन्सान केवल रोटी के सहारे नहीं जी सकता। गांधीवाद कर्त्तव्य पर जोर देता है। यूरोप का साम्यवाद मनुष्य के अधिकार की मांग पेश करता है।

'यू० पी० के ९० फी सदी जमीन्दारों ने १९३० और १९३२ में हमारी मदद की थी। वे आजादी के जंग में हमारे साथ थे। १ या २ फी सदी सरकार के साथ थे। बाकी लोग निष्पक्ष थे। जमीन्दारों और किसानों में कोई भेद नहीं। मैं तो मनुष्य की उच्च भावनाओं पर विश्वास करता हूँ। यदि हम जमीन्दारों को धमकी दें, तो इसका यह अर्थ है कि हममें बुद्धि नहीं है। जब तक विदेशी शासन यहाँ है, तब तक एक हिन्दुस्तानी को दूसरे हिन्दुस्तानी के खिलाफ प्रचार नहीं करना चाहिये।'

'बम्बई के व्यापारियों ने हरदम कांग्रेस का साथ दिया। कांग्रेस की आज्ञा से उन्होंने घाटा उठा कर भी विलायती माल नहीं बेचा। वह एक पवित्र आग थी, जो गरीबों और अमीरों दोनों के अन्दर जल रही थी। गांधी-भक्त दुनिया के इतिहास में नया परिच्छेद खोलना चाहते हैं। एक बार तो उन्हें यह इजा-

जरा दी जाय कि वे दुनियाँ को मुहब्बत से, नफरत से नहीं जीतने की कोशिश करें। लड़ाई का इलाज लड़ाई नहीं है। हमें श्रेणी-युद्ध को बचाने की कोशिश करनी चाहिये।'

'गांधीजी ने गोलमेज में यह चुनौती दे दी थी कि स्वराज्य की प्राप्ति के बाद इसका फैसला होगा कि कौन जमींदार मुल्क को आजादी के जंग के पक्ष में था, और कौन खिलाफ। स्वराज्य प्राप्ति पर हम तय कर सकते हैं कि कौनसा आर्थिक ढांचा अच्छा होगा। मैं जमींदारों को आश्वासन नहीं देता कि जमींदारी प्रथा में परिवर्तन नहीं होगा।'

जो लोग १९३० और १९३२ में जेल गये थे, वे दूकान की बिक्री बढ़ाने के लिये; जमींदारी की रक्षा के लिये नहीं, बल्कि एक ऊँची भावना के कारण गये थे। उस उच्च भावना का नाश कदापि नहीं हो सकता। जवाहरलाल नेहरू तथा गांधीजी के १२ वर्षों के आन्दोलन ने देश को जितना आगे बढ़ाया है, उतना और किसी भी आन्दोलन ने किसी भी दूसरे देश को कभी नहीं बढ़ाया। जब तक गांधी जिन्दा है तब तक देश का नेतृत्व उनके सिवा और कोई नहीं ग्रहण कर सकता। दूसरा कोई उन्हें साथ लेकर नहीं चल सकता। हम दुआ दें कि गांधी जब दुनिया से जायँ, तो इस मुल्क को आजाद करके जायँ।'